प्रकाशकीय

जीवन विचार-पुँज की भूमिका पर अधिष्ठित प्रासाद है। उसके प्रत्येक कर्म के पीछे एक धुँधला या उजला विचार रहता है। विचार स्थूल भाव को छोड़ जब सूक्ष्मता में पैठता है, वहाँ अनेक स्पृहणीय तथ्यों के रूप में वह निष्कर्ष आता है, जो जीवन को एक नया आलोक देता है। सूक्ष्म भाव में पैठने की यह प्रक्रिया दर्शन कहलाती है। अणुव्रत आचार-मार्ग है। असत् का निरोध कर सत् में सहजतया सम्प्रवृत्त होने की मूक पर ओजमय पुकार उसकी है। इस संयमानुकूल आचार-पथ के पीछे एक गम्भीर दर्शन है, सूक्ष्म चिन्तन की उर्वर परम्परा है। सत् में श्रेयस् देखने वाले हर व्यक्ति के लिए जिसका अनुशीलन अपेक्षित है। क्योंकि सुगठित विचार-बल का सहारा पा आचार नव स्फूर्ति व चेतना पाता है। परिपुष्ट सद्-आचरण से विचार की शोभा तो है ही।

प्रस्तुत पुस्तक में आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के अन्तेवासी मुनिश्री नथमलजी ने अणुव्रत के पीछे रहे दर्शन को अपने सूक्ष्म अनुशीलन, चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन के

सहारे एक स्पष्ट, परिमार्जित तथा बाधप्रद अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—इन व्रतों का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रणाली से विश्लेषण करते हुए वर्तमान के विविध वादों के साथ युक्तिपूर्ण तुलना की है। निषेध प्रधान व्रत परम्परा पर बड़े सुलझे हुए विचार देते हुए उन्होंने इसकी चिरन्तन उपयोगिता को बताया है।

मुनिश्री की भाषा में ओज है, विचारों में गंभीरिमा है, दार्शनिक मस्तिष्क होने के नाते शैली में प्रौढ़ता है ही, पर वह दुरूहता से ग्रस्त नहीं है, उसमें प्रसाद-सहज बोध्यता है। उनकी यह कृति अणुव्रत-आन्दोलन के पीछे रहे विचार-वैभव की एक अमूल्य कणिका है। आन्दोलन के सम्बन्ध में निकले साहित्य में इसका अपना असाधारणस्थान है। आन्दोलन के दार्शनिक पहलुओं को जिस बारीकी के साथ इसमें छुआ गया है, नि सन्देह वह स्तुत्य है।

अखिल भारतीय अणुव्रत समिति की ओर से इस अनुपम कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। आशा है, पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

दिनांक
२१ सितम्बर १९५८

—जयचन्दलाल दफ्तरी
मन्त्री
अ० भा० अणुव्रत समिति

समर्पण

जिनसे
इस स्रोत ने नया रूप लिया,
उन्हीं
आचार्य श्री तुलसी
को
-मुनि नथमल

दूसरा अध्याय

आन्दोलन के पार्श्व में

तीसरा अध्याय
लक्ष्य की ओर

चौथा अध्याय
निर्माण की दिशा में व्रतों का महत्त्व

नया-रूप

यह अणुव्रत-दर्शन का परिवर्धित रूप है। कार्य-बहुलता के समय में अणुव्रत-दर्शन को बढ़ाना सहज नहीं लगता था किन्तु मुनि सुमेरमलजी के आग्रह ने ऐसा करवा लिया। कुछ निबन्ध जोड़े, कुछ विषय नये लिखे और टिप्पण उनने तैयार कर दिये। अणुव्रत-दर्शन का आकार बढ़ गया।

प्रकार को बड़ा करने के लिये जितना चिन्तन अपेक्षित है, उतना बड़े आकार के लिये नहीं। पर आकार के साथ कुछ प्रकार भी बढ़ता ही है।

अणुव्रत और उनके आन्दोलन की भावना को समझने में इसका प्रसार दृष्टि दे सकेगा—ऐसा विश्वास है।

—मुनि नथमल

विषयानुक्रम

पहला अध्याय

अणुव्रत की पृष्ठ-भूमि में

पाँचवाँ अध्याय
कदम आगे बढ़े

पहला अध्याय

अणुव्रत की पृष्ठ-भूमि में

: १ :

व्रत क्या है ?

अनन्त आकाश है और अपार पदार्थ। मन पर कोई नियन्त्रण नहीं है। वह दौड़ता है, इन्द्रियाँ दौड़ती हैं। यह खुली दौड़ मनुष्य को भोगी, हिंसक और क्रूर बना देती है।

क्रूरता से अशान्त हो मनुष्य ने साध्य के बारे में सोचा। आखिर उसने जान लिया कि जीवन का साध्य शान्ति है।

शान्ति को पाने के लिए उसने क्रूरता को छोड़ना चाहा। क्रूरता को छोड़ने के लिए हिंसा, हिंसा को छोड़ने के लिए इन्द्रिय और मन की स्वतन्त्रता को छोड़ने का अभ्यास किया। वह अभ्यास आत्मा की सहज पवित्रता और उसे अपवित्र बनाने वाले मन की चंचलता के बीच लोहावरण बन गया, इसलिए हमारे आचार्यों ने उसे व्रत कहा[1]।

१—व्रत शब्द 'वृतु संवरणे' धातु से बनता है। इसका अर्थ संवरण करना है।

: २ :

अणु क्यों?

स्वरूप की दृष्टि से व्रत एक है। व्रत का काम है आत्मा और उसे अपवित्र बनाने वाली दुनियाँ के बीच में दीवार खड़ी करना। पर दीवार कमजोर भी हो सकती है और मजबूत भी। अभ्यास के प्रारम्भ में वह उतनी मजबूत नहीं बनती, जितनी कि अभ्यास करते युगों बाद बनती है। दूसरी बात— प्रत्येक आत्मा मोहाणुओं के आकर्षण से खिंची रहती है। वह उन्हें विस्तार की ओर खींचता रहता है। उस आकर्षण के खिंचाव से बचने के लिए जो अधिक सफल होता है, वह विकार से अधिक दूर जा सकता है और जो कम सफल होता है उसकी विकार से दूरी भी कम होती है। इस वस्तु-स्थिति के आधार पर ही व्रत के प्रारम्भिक या अल्प अभ्यास को अणु कहा गया। आत्मा और अपवित्रता के बीच लोहावरण सघन नहीं बना, दीवार मजबूत नहीं बनी, इसलिए उसका नाम अणुव्रत हो गया।

: ३ :

व्रत शब्द की प्रेरकता

भारतीय मानस में व्रतों के संस्कार बहुत पुराने हैं। ये हृदय की स्वतन्त्र भावना से लिए जाते हैं। कानून को तोड़ने में संकोच नहीं होता। व्रतों को तोड़ने में बहुत बड़ा पाप माना जाता है। व्रत न ले, यह पाप है पर लेकर उसे तोड़ डाले, यह महापाप है—यह यहाँ की सामान्य धारणा है। लोग कहते हैं—इतने महर्षि हुए, 'व्रतों' का जी-भर उपदेश दिया पर बना क्या ? अनैतिकता बढ़ी है, कम नहीं हुई।

सोचने का अपना दृष्टिकोण है। हमें तो लगता है कि व्रतों से जो हो सकता है, वह हुआ है। जो व्रतों से नहीं हो सकता· उसकी आशा हम उनसे क्यों करें ?

लोग व्रतों से समाज की व्यवस्था चाहते हैं। हमारा विश्वास यह है कि व्रत समाज को व्यवस्था नहीं दे सकते। व्रत हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता और पवित्रता के प्रतीक हैं। व्यवस्था में दबाव होता है। व्रत आत्मा का धर्म है और व्यवस्था है—सामूहिक जीवन की उपयोगिता। व्रत अपरिवर्तित रहा है और व्यवस्था देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रही है। जो लोग व्यवस्था की दृष्टि से व्रतों का मूल्य आंकते हैं, उनकी धारणा में व्रत असफल रहे हैं। व्रतों के आचरण से समाज की भोग-वृत्ति पर बहुत अंकुश रहा है। हिंसा को खुलकर खेलने का अवसर नहीं मिला—इस दृष्टि से देखें तो व्रत समाज की आत्मा के प्रेरक रहे हैं।

: ४ :

अणुव्रत शब्द का मूल

व्रत शब्द का प्रयोग वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराओं में मिलता है। अणुव्रत का प्रयोग पहले पहल जैन आगमों मे हुआ है। जिन्होंने अपवाद और आपद्-धर्म की छूट से रहित अहिंसा का आचरण करना चाहा, उनके अहिंसा-धर्म को महाव्रत कहा गया। बिना प्रयोजन नहीं मारूँगा, निरपराध को नहीं मारूँगा, सकल्पपूर्वक नहीं मारूँगा—इस प्रकार अपवाद और आपद्-धर्मपूर्वक जिन्होंने अहिंसा का आचरण किया, उनका अहिंसा-धर्म अणुव्रत कहलाया। अणुव्रतो को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। उसका आधार भी यही आचरण की शक्ति का तरतम भाव है। दूसरे शब्दों मे यों कह सकते है कि मुनि या संन्यासी का धर्म महाव्रत और सामाजिक व्यक्ति का धम अणुव्रत कहलाया।

: ५ :

अणुव्रत का व्यापक प्रयोग

जैन-परम्परा में श्रावक[1] के व्रतों को ही अणुव्रत कहा जाता है। यह शब्द जैनागमों से लिया गया है पर इसका प्रयोग 'छोटे-छोटे व्रत' इस सामान्य अर्थ में किया गया है। मौलिक व्रत पाँच हैं। उनकी साधना भी पूर्ण नहीं है, इसीलिए वे अणुव्रत हैं। उनके अन्तर्गत जो छोटे-छोटे व्रत हैं वे अवश्य ही अणु हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्दजी के अनुसार वे आवश्यक भी नहीं हैं। उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"बहुत से तथोक्त व्रत ऐसे हैं, जो मेरी समझ में अनावश्यक हैं। इतना ब्यौरे में जाने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और उसकी स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति पर गहरा अंकुश लग जाता है। घी में वेजीटेबल न मिलाना, वोट के लिए रुपया न लेना न देना, होली पर भद्दा व्यवहार न करना, बड़ी बारात न ले जाना, बहुत से व्यक्तियों को निमन्त्रित न करना आदि ब्यौरे की ऐसी

१—श्रमणों की उपासना और व्रतों का आचरण करनेवाला गृहस्थ श्रावक कहलाता है।

बातें हैं, जिनको व्रत की कोटि में ले आना व्रत शब्द की मर्यादा को संकुचित करना सा प्रतीत होता है। रेशमी वस्त्र त्याज्य हैं, इसे बहुत से प्रमाण कोटि तक पहुँचे हुए साधु महात्मा भी मानने को तैयार न होंगे। मनुष्य को संयमी बनने के लिए जो भी प्रयत्न किया जाय, वह सुन्दर है। आजकल का शिक्षित भारतीय धर्म से बहुत दूर जा पड़ा है। उसको धर्म-निष्ठ और व्रती बनाने का प्रयास अनुमोदनीय है, परन्तु उचित यही प्रतीत होता है कि कुछ मौलिक बातों पर शास्त्र और तर्क के द्वारा निष्ठा उत्पन्न करा के ब्यौरे की बातों को उसकी बुद्धि पर छोड़ दिया जाय। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने धर्म के लक्षणों में जहाँ श्रुति; स्मृति और सदाचार को गिनाया है, वहीं उनके साथ यह कहा है कि जो "स्वस्य च प्रियामात्मनः" है वह भी धर्म है। शास्त्र, सत्संग और सद्विचार के द्वारा बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये।" यह आशंका सच है। इन बहुत छोटी-छोटी बातों को व्रत की सीमा में लाना भी नहीं चाहिए। जो अहिंसा का व्रत लेता है उसे इन दोषों से स्वयं बचना चाहिए। परन्तु जन-मानस कुछ दूसरा हो गया। बहुत सारे लोग जीव-वध को ही हिंसा मानते हैं। इन अनैतिक आचरणों को जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक मान रखा है। ये बहुत छोटी लगने वाली बातें कभी बहुत घृणित थीं पर आज वे बहुत ही सहज हो गई हैं इसलिए उन्हें व्रत की कोटि में रखना उचित ही है और अणुव्रत शब्द इस भावना का सही प्रतिनिधि बन गया है।

: ६ :

अणुव्रतों का आन्दोलन

अणुव्रत जीवन की स्थिति है और आन्दोलन है गति की तीव्रता। वाक्य रचना की दृष्टि से दोनों शब्दों का योग विरोधी सा लगता है।

श्री नेमिशरण मित्तल का श्री प्रतापसिंह वैद के नाम पत्र आया। उसमें उन्होंने लिखा—'अणुव्रत-अनुशीलन कोई आन्दोलन नहीं है, उसमें स्थिति की गति और गति की स्थिति है, दोलन नहीं है। कुछ है तो आरोहण है, अतः आपने अपनी योजना को जो नाम दिया है, वह गलत दिखता है ?' प्रश्न स्वाभाविक है। अणुव्रती के लिए अणुव्रत अनुशीलन की वस्तु है, दोलन की नहीं। किन्तु अणुव्रत-अनुशीलन के प्रति मानव समाज में प्रेरणा जागृत हो, इसलिए आन्दोलन आवश्यक है। इसकी भावना हमें इन शब्दों में ग्राह्य है कि अणुव्रतों की व्यापकता के लिए आन्दोलन है। इसी भावना का संक्षेप[1] अणुव्रत आन्दोलन है। तात्पर्य की भाषा यही है—लोगों को व्रत ग्रहण की प्रेरणा मिले, व्रतों के प्रति आकर्षण बढ़े, लोग व्रती बनें।

१—संस्कृत-व्याकरण का मध्यमपदलोपी समास मान लिया जाए।

व्रतों का स्वरूप आरोहणात्मक है। पर आरोहण क्रमिक होता है। ऊँचाई में कृत्रिम-भेद नहीं होता, सोपान में वह होता है। अणुव्रतियों का श्रेणी-भेद सोपान-भेद की भाँति उपयोगिता मात्र है। इसका प्रयोजन व्रतों को तोड़ना व व्रतियों को पृथक्-पृथक् श्रेणी में विभक्त करना नहीं है। हम कोरे आदर्श-वादी ही न हों, हमें वस्तु-स्थिति का स्पर्श किये चलना चाहिये। मनुष्यों के मोह के तारतम्य और तज्जनित सामर्थ्य का विचार कर ही आरोहण की कल्पना देनी चाहिये। क्रमिक अभ्यास की दृष्टि से यह श्रेणी-भेद वस्तु-स्थिति पर आधारित है, ऐसा हमें लगता है।

: ७ :

आन्दोलन का लक्ष्य

जीवन के मूल्यांकन का दृष्टिकोण और उसकी उच्चता का मापदण्ड वदले—इस उद्देश्य से अणुव्रत-आन्दोलन चला और वह लक्ष्य की ओर सहज गति से वढ़ रहा है। चरित्र का न्यूनतम विकास सवमें हो, हृदय की श्रद्धा से हो—यह 'अणुव्रत' का साध्य-स्वरूप है। आन्दोलन के प्रवर्तक की यह मान्यता है कि चारित्रिक उच्चता के विना मानव समाज की सभ्यता और संस्कृति उच्च नहीं वन सकती।

वैयक्तिक जीवन को पवित्र वनाए रखने की भावना के विना चरित्र विकास नहीं हो सकता।

वैयक्तिक चरित्र की उच्चता विहीन सामुदायिकता जो वढ़ रही है, वह गंभीरतम खतरा है।

संयमहीन राष्ट्रीयता की भावना भी खतरा है।

रंग-भेद और जाति-भेद के आधार पर जो उच्चता और नीचता की परिकल्पना है, वह भी खतरा है।

अधिकार-विस्तार की भावना त्यागे विना निःशस्त्रीकरण की चर्चाएँ चल रही हैं, वह भी खतरा है।

विश्व में जब कभी खतरे की घंटी बज पड़ती है, वह खतरा नहीं है। वह वास्तविक खतरे का ही परिणाम है। खतरा स्वयं छिपा रहता है। मनुष्य परिणाम से चौंकते हैं, उसके कारण से नहीं।

मानवीय, जातीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय पतन के दो कारण हैं—(१) भोग विलास का अतिरेक (२) अति संग्रह। प्रत्येक मनुष्य सुख सुविधा और अधिकार की उच्चता चाहता है। यही चाह उसे दूसरों के प्रति अन्याय और अधिकार-हरण की ओर ले जाती है।

अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा उसके प्रवर्तक ऐसा वातावरण बनाना चाहते हैं, जिससे प्रभावित होकर कोटि कोटि जनता -

१ आध्यात्मिक भावना के उन्नयन के द्वारा अधिकार विस्तार की वृत्ति को नियन्त्रित करे।
२ आक्रामक नीति का परित्याग कर निःशस्त्रीकरण करे।
३ मनुष्य जाति एक है—इस विश्वास की सुदृढ भूमिका पर रंग और जाति के भेद से होनेवाली असमानता को नष्ट करे।
४ आज का दृष्टिकोण कोरा आर्थिक बनता जा रहा है, उसे बदलने का प्रयत्न करे।
५ प्रत्येक आवश्यक कार्य को आध्यात्मिकता से सन्तुलित रखे। अगर ऐसा नहीं हुआ तो हिंसा, आक्रमण और प्रतिशोध की शृङ्खला बहुत लम्बी हो चलेगी।

: ८ :

अणुव्रती कौन हो सकता है ?

इस छोटी-सी दुनियाँ में अनेक राष्ट्र, अनेक जातियाँ, अनेक वर्ग, अनेक सम्प्रदाय और अनेक विचार वाले लोग हैं।

भौगोलिक सीमा और विचारों के भेद ने लोगों को अनेक रूपों में बाँट रखा है। वास्तव में ये सारे भेद कृत्रिम हैं। बाहरी सीमाएँ मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं डाल सकतीं। इसलिए अणुव्रती बनने में जात-पाँत आदि के भेद बाधक नहीं बनते।

मनुष्य में जो विश्वास और आचरण का भेद है, वह अकृत्रिम है। अणुव्रती के लिए यह स्वाभाविक सीमा मान्य है। आचरण का विकास करने के लिए अणुव्रत आन्दोलन है ही। आचरण को पवित्र बनाना चाहे, वह व्यक्ति अणुव्रती हो सकता है। आचरण की पूर्व भूमि विश्वास है। अहिंसा में जिसका विश्वास न हो वह नैतिकता या आचरणों के मूल्यों को स्वतन्त्र नहीं मानता। परिस्थिति पर निर्भर नैतिकता का कोई अर्थ नहीं होता। इसलिए यह माना गया है कि अणुव्रतों के आदर्शों को जो चाहे सो निभाए। पर अणुव्रती उसी को मानना चाहिए, जिसका विश्वास अहिंसा में हो।

अणुव्रत सभी सम्प्रदायों के मौलिक नियम हैं। उनके द्वारा सर्व धर्म समन्वय की माँग स्वय पूरी होती है, आचरण और उपासना में जो भेद आ गया, वह इस आन्दोलन के द्वारा मिटता है।

सत्य और अहिंसा का खयाल रखते हुए गृहस्थी नहीं चलायी जा सकती, यह मिथ्या धारणा इसके माध्यम से टूटती है।

इन सबका मूल अहिंसा है। इसमें आस्था जमने पर ही आचरण आगे बढ़ सकता है।

: ६ :

क्रमिक विकास की परिकल्पना

अणुव्रत-आन्दोलन की तीन श्रेणियाँ हैं : (१) प्रवेशक अणुव्रती, (२) अणुव्रती और (३) विशिष्ट अणुव्रत इनका आधार साधना का क्रमिक अभ्यास है। व्यक्ति अपनी वृत्तियों का परिमार्जन करे—यह व्रत-ग्रहण की दृष्टि है। एक ही वृत्ति के अनेक रूप और उसकी अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग होते हैं। वृत्ति का शोधन नहीं होता, केवल रूप और मार्ग का निरोध होता है तब वह मिटती नहीं, रूपान्तरित व मार्गान्तरित हो जाती है। बुराई नहीं मिटती, उसके रूप और प्रगट होने का मार्ग बदल जाता है। जैसा कि मैंने एक कविता में लिखा है :

"बुरी बुराई होती उससे, बुरा कि वह संस्कार।
जो कि बुराई को देता है, नित्य नया आकार ॥१॥
पतझड़ होता फूल टूटते, दृढ़ रहता है मूल।
फिर से आते ही रहते हैं, पत्र और फल फूल ॥२॥

अन्तर का शोधन नहीं होता, मर जाता है भाव।
पीप दूसरा मार्ग बनाती, सबका यही स्वभाव ॥३॥
नहीं वासनाएँ मिटती हैं, होता कोरा त्याग।
मार्गान्तर से बाहर आता, अन्तर का अनुराग ॥४॥
करो धारणा,[१] नहीं व्रतों की सीमा प्रत्याहार[२]।
जुड़ जायेगा चित्त ध्येय से, होंगे तब श्रृंगार ॥५॥
नहीं बने ही बने रहेंगे, व्रत केवल शिर भार।
करो न आँख मिचौनी उनसे, वे अमूल्य उपहार ॥६॥
शान्ति भ्रान्ति में नहीं मिलेगी, ढूंढो सच आधार।
परम तत्त्व है शान्ति साधना, जो जीवन का सार ॥७॥"

अणुव्रती का ध्येय व्रतों की भाषा में सीमित नहीं है। ध्येय है—जीवन की शान्ति। उसके साधन इतने ही नहीं हैं, आगे और बहुत हैं। बुराइयाँ अशान्ति लाती हैं। वे भी इतनी ही नहीं हैं, जिनका कि यहाँ निषेध हुआ है। यह तो साधना-बिन्दु पर दृष्टि को केन्द्रित करने का प्रयत्न है। उसके तीन वर्ग वस्तु-स्थिति पर आधारित है। व्यक्ति की असीम योग्यता या कर्तृत्व शक्ति में हमें विश्वास है। उसका शुभ मानस जागरण का संकेत मिलने पर जाग उठता है। जागरण का क्रम किसी का लम्बा और किसी का छोटा हो सकता है। जागरण के बाद आत्म-नियमन की बात आती है। वह भी किसी के

१-ध्येय के किसी अंश में चित्त को लगाना।
२-इन्द्रियोंके विषय—शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श से मनको हटाना।

लिए दीर्घ प्रयत्न साध्य होता है और किसी के लिए स्वल्प प्रयत्न साध्य। ये तीन श्रेणियाँ इसी क्रम-विकास के आधार पर निर्मित हुई हैं। यह स्वल्प से मध्यम और मध्यम से उत्कृष्ट की ओर गति है। विशिष्ट अणुव्रती का मार्ग आगे बढ़ता ही जाता है।

अपेक्षा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट अणुव्रती बने। वह न बन सके तो अणुव्रती बने, वह भी न बन सके तो कम-से-कम प्रवेशक अणुव्रती तो अवश्य बने। प्रवेशक को अणुव्रती बनने और अणुव्रती को विशिष्ट अणुव्रती बनने के लिए प्रयत्न-शील रहना चाहिए तथा क्रमशः वृत्तियों की विशेष पवित्रता की ओर बढ़ना चाहिये।

: १० :

व्रतों का विस्तार-क्षेत्र

व्रत सारे के सारे वैयक्तिक होते हैं। धन सामाजिक होता है। एक की कमाई का लाभ अनेकों को मिल जाता है। व्रत में वैसी बात नहीं है। एक व्यक्तिकी व्रत-साधना का लाभ दूसरों को नहीं मिलता। प्रासंगिक लाभ तो मिलता है। एक व्यक्ति अपनी भलाई के लिए कोई भी बुरा काम नहीं करता, वह समाज की भलाई में बिना कुछ किये अपना योग दे देता है। अनावश्यक संग्रह नहीं करनेवाला दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति का सहज भाव से निमित्त बन जाता है। यह प्रासंगिक लाभ की बात हुई। हमारा तात्पर्य व्रत के मौलिक लाभ से है। उसका प्रतिदान नहीं होता। शान्ति उसी को मिलती है, जो व्रत के द्वारा अपनी वृत्तियों का शोधन करता है, दूसरों को नहीं मिलती। सगे-सम्बन्धियों को भी उसका दाय-भाग नहीं मिलता। प्रेरणा मिल सकती है, निमित्त मिल सकता है, पर शुद्धि का समर्पण नहीं होता—यही उनका वैयक्तिक स्वरूप है। यह व्रतों के शुद्ध रूप की मीमांसा हो गई। यहाँ मेरा

अभिप्राय दूसरा है। यहाँ उन्हीं व्रतों को 'वैयक्तिक' संज्ञा देनी है, जो मुख्यतया व्यक्ति की निजी स्थिति को ही प्रभावित करनेवाली बुराई का नियन्त्रण करें। व्यक्ति के अलावा छोटे या बड़े समूह को प्रभावित करनेवाली बुराई का नियन्त्रण करनेवाले व्रत 'सामूहिक' हो जाते हैं। वृत्ति-शोधन की अपेक्षा दोनों प्रकार के व्रत एक रूप हैं। यह संज्ञा-भेद केवल प्रासंगिक परिणाम या दूसरों पर होने वाले सहज परिणाम की अपेक्षा से है।

आन्दोलन के ४५ व्रतों में से दस व्रतों का परिणाम मुख्यवृत्त्या व्यक्ति पर ही होता है। इसलिये उन्हें वैयक्तिक कहा जा सकता है। २५ व्रत समाज की स्थिति को प्रभावित करते हैं, इसलिये उन्हें सामाजिक व्रत कहा जा सकता है।

१६ व्रत राष्ट्रीय हैं और ५ व्रत अन्तर्राष्ट्रीय। इस गणना-पट्टक में व्रतों की संख्या ५७ हो गई है। कई व्रत डमरू-मणि की स्थिति वाले या सञ्चारी हैं। वे एक से अधिक क्षेत्र पर सीधा असर डालते हैं। इसलिये अनेक क्षेत्रों में उन्हें गिना गया है। व्रत-संख्या की वृद्धि का हेतु यही है।

वैयक्तिक	सामाजिक	राष्ट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
१।२	१।१ ५।५	१।१	१।१
४।१	१।२ ५।६	१।३	३।२
४।२	१।५ ६।१	२।७	३।३
४।३	१।६ ६।२	२।८	३।४

वैयक्तिक	सामाजिक		राष्ट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
५।१	२।१	६।५	३।३	६।५
६।१	२।२	६।८	३।४	
६।२	२।३	६।६	३।६	
६।३	२।४	६।१०	५।१	
६।६	२।५	६।११	५।२	
६।८	२।६	६।१२	५।३	
	३।१		५।४	
	३।२		६।१	
	३।४		६।२	
	३।५		६।५	
	४।४		६।७	
	४।५		६।८	
	५।१			

व्रतों का यह विभाजन स्थूल-विचार से किया गया है। इनकी सञ्चरणशीलता बहुत सूक्ष्म है, इसलिये उसे किसी एक ही के साथ बाँधा नहीं जा सकता।

दूसरी बात—व्रतों का यह विभाजन संक्षिप्त रुचि के अनुसार किया गया है। विशद रुचि के अनुसार व्रतों को विभिन्न क्षेत्र व कार्यों में बाँटा जा सकता है। जैसे—३ व्रत पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, ३ व्रत शिक्षा क्षेत्र से सम्बन्धित है, २ व्रत चिकित्सा क्षेत्र से जुड़े हुए हैं, १० व्रतों का सम्बन्ध

व्यवसाय व उद्योग से है। इसी प्रकार ४ व्रत विवाह से, २ व्रत न्यायालय से, ४ व्रत खान-पान से, २ व्रत परिधान से, १ व्रत परम्पराओं से, १ व्रत पर्व से, १ व्रत धर्म-सम्प्रदायों से, १ व्रत पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से, १ व्रत जातिवाद से, १ व्रत निर्वाचन से, ५ व्रत सामान्य व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं।

१—पारिवारिक जीवन—१।२, १।३, २।४।

२—शिक्षालय—२।६-क, ग, घ।

३—चिकित्सालय—२।६—क, ५।४।

४—व्यवसाय-गृह—१।६, २।१, २।४, २।५, २।७-क, ख, ३।२, ३।३, ३।४, ६।७।

५—विवाह-संस्था—४।२, ४।३, ५।५, ५।६।

६—न्यायालय—२।२, २।३।

७—खान-पान गृह—६।१, ६।२, ६।३, ६।४।

८—परिधान गृह—६।५, ६।६।

९—परम्परा-प्रवाह ६।८।

१०—पर्व—६।९।

११—धर्म सम्प्रदाय—१।५।

१२—प्रकाशन व सम्पादन गृह—२।७।

१३—जातिवाद—१।४।

१४—निर्वाचन-पेटी—५।३।

१५—सामान्य व्यवहार—१।४।, २।५।, ३।२।, ३।६।, ५।२।

१६—संस्था—२।७।, ३।५।

: ११ :

व्रत-साधना का प्रासंगिक फल

व्रतों की शब्दावली में गूढ़ता नहीं है। उनसे भावनाएँ गूढ़ है। उनकी स्पष्ट रेखाओं को देखना जरूरी है। १।१ में संकल्प-पूर्वक घात नहीं करने का व्रत है। उद्देश्यहीन हिंसा, आवेग-क्रोध, लालच, अधिकार, अभिमान, कपट—की स्थिति में होने-वाली हिंसा संकल्पी हिंसा है। इसका पहला रूप शौकिया मनोवृत्ति से बनता है—शिकार खेलना, भैंसों या दूसरे जानवरों के साथ लड़ते हुए उन्हें मारना, ये और इस कोटि के दूसरे कार्य जीवन के आवश्यक अंग नहीं होते, केवल क्रीडा या मनोरंजन-मात्र होते हैं। इसलिये अणुव्रती उनसे बचें। दूसरा रूप साम्राज्य-वादी व संग्रहवादी मनोवृत्ति, जातीय और साम्प्रदायिक विद्वेष की मनोवृत्ति से बनता है—आक्रमण करना, आग लगाना, भड़काना, विद्रोह फैलाना—ऐसी प्रवृत्तियाँ संकल्पी हिंसा के ही रूप हैं। 'संकल्पपूर्वक घात नहीं करना'—इसका अर्थ न मारने तक ही सीमित नहीं है किन्तु हिंसा को उत्तेजना

मिले, वैसी प्रवृत्तियाँ न करना—यह भी उसी में समाया हुआ है। इसलिये अणुव्रती ऐसी प्रवृत्तियों से दूर रहें। आक्रमण न करना—यह सामाजिक व राष्ट्रीय महत्त्व से भी आगे जाता है। इसका बहुत बड़ा महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय है। जिस पंचशील ने अनेक राष्ट्रों को मैत्री के सूत्र में बाँधा है, उसमें एक शील है—आक्रमण न करना। यह अणुव्रत-भावना की बहुत बड़ी विजय है। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का मूल हिला है; तभी राजनीति के क्षेत्रों में अनाक्रमण की संधि का स्वर विवशता के बिना ही बलवान् बनता जा रहा है। लोभ और विद्वेषवश वैयक्तिक या जातीय आक्रमण न हो, वैसा विवेक-जागरण भी अणुव्रत-आन्दोलन का प्रमुख ध्येय है।

अनाक्रमण की वृत्ति का लाभ है—शान्ति, जातीय शान्ति, राष्ट्रीय शान्ति, विश्व-शान्ति। अनाक्रमण मैत्री की पहली मंजिल है। आक्रमण की वृत्ति क्रूरता से बनती है। वह अंकुरित न हो, इसके लिये छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। (१) कठोर बन्धन से बाँधना, (२) अङ्ग-विच्छेद करना, (३) डाम देना, (४) निर्दयतापूर्वक पीटना, (५) पशुओं को आपस में लड़ाना, (६) त्रिशूल आदि के दाग लगाना, (७) बलात् दूसरों को अपने अधीन बनाना व अधीन किये रखना, ये छोटी किन्तु क्रूरता की वृत्ति को पोषण करनेवाली प्रवृत्तियाँ हैं। अनाक्रमण की भावना को प्रबल बनाने के लिये इनका निवारण भी अपेक्षित है।

शस्त्रास्त्र और गोला बारूद के उद्योग-धन्धों का नियंत्रण भी अनाक्रमण की भावना को विकसित करने के लिये आवश्यक है। आक्रमण की भावना के रहते हुए निःशस्त्रीकरण की बात नहीं फलती, वैसे ही अस्त्र शस्त्रों के बढ़ते हुए उत्पादन के साथ अनाक्रमण की संगति नहीं होती। शस्त्रास्त्रों का निर्माण करनेवाले व्यापारी आक्रमण की वृत्ति को उभारने में ही अपना लाभ देखते हैं। आक्रमण की जड़ हिलाने के लिये पारिपार्श्विक पोषण-तत्त्वों को उखाड़ फेंकना ही होगा।

जिस राष्ट्र की व्यापारिक साख नहीं होती उसका व्यापार भी अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बनता। नैतिकता की कमी प्रतिष्ठा में भी कमी लाती है। आध्यात्मिक हानि के साथ-साथ व्यावहारिक हानि भी होती है। व्यापारिक अप्रामाणिकता छोड़ने का परिणाम केवल निर्यात वृद्धि ही नहीं होता, उससे राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास का अनुमापन भी किया जाता है। व्यापार में क्रूर व्यवहार—(१) माल पाकर नहीं मिला या कम मिला, (२) अच्छा माल पाकर बुरा मिला, (३) मूल्य पाकर नहीं मिला या कम मिला, (४) सौदा करके नहीं किया—करने से—ऊपर बताये हुए कार्य करने से प्रतिष्ठा टूटती है, नैतिक पतन होता है इसलिए ऐसे कार्य जो व्रत की भाषा में नहीं आये हैं [illegible] उनकी भावना से परे नहीं हैं। जिस समाज में (१) [illegible] व्यापार, (२) वेश्या-वृत्ति से आजीविका, (३) लाइसेंस, [illegible] आदि प्राप्त करने के लिये घृणित तरीकों का

(४) स्त्रियों को धमका, फुसला, बहका, लुभाकर विवाह करना, (५) विश्वासघात करना, (६) झूठा लाइसेंस, (७) अनिष्टकारी सलाह, (८) झूठे राशनकार्ड बनाना, (६) जुआखाना खुलवाना— ऐसी जघन्य प्रवृत्तियाँ चलती हैं, वह उन्नत सांस्कृतिक चेतना-वाला नहीं होता इसलिये व्यापार सम्बन्धी अनैतिकता निवा-रण की साधना सामाजिक स्वस्थता को भी कम महत्वशाली नहीं बनाती।

: १२ :

आन्दोलन के प्रवर्तक

आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी जैन श्रमण-परम्परा के कुशल नेता हैं। गौर वर्ण, मंझला कद, सहज आकर्षण, प्रसन्न मुद्रा, चमकती आँखें और विशाल ललाट—यह उनका बहिर्-दर्शन है। चरित्र-विकास के उन्नयन की महान् आकांक्षा, अनाग्रह और समन्वय दृष्टि का व्यवहार में उपयोग, भौतिक शक्तियों के विकास पर आध्यात्मिकता के अंकुश की सुदृढ़ आस्था; यह है उनका आन्तरिक व्यक्तित्व।

धन से धर्म नहीं होता, हृदय-परिवर्तन के बिना अहिंसा नहीं हो सकती, बल-प्रयोग हिंसा है, पारस्परिक सहयोग सामाजिक तत्त्व है, असंयमी दान का अधिकारी नहीं है आदि २ जीवन-स्पर्शी तेरापंथ की प्रस्फुट मान्यताओं के वाहक होने के कारण वे क्रान्ति के सूत्रधार हैं। उनके विशाल व्यक्तित्व और कुशल वक्तृत्व ने अपार दिलों को छुआ है। वे आध्यात्मिक दृष्टि से भारत और अभारत को भिन्न नहीं मानते। वे समूचे विश्व को आध्यात्मिकता से अनुप्राणित और नैतिकता में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं।

श्री मित्तलजी ने उसी पत्र में लिखा था—"अणुव्रत-चर्या की ओर प्रथम व्यवस्थित इंगित महर्षि महावीर ने किया है—ऐसी मेरी जानकारी है। अतः इस विचार के प्रवर्तक महर्षि महावीर माने जाने चाहियें, आचार्य तुलसी नहीं। मेरा दावा है कि स्वयं आचार्य तुलसी जैसा महर्षि महावीर का नम्र अनुयायी यह मंजूर नहीं कर सकता कि वह अणुव्रत-चर्या का प्रवर्तक या कल्पनाकार है। यदि आप मेरे दावे को कसना चाहें तो उसे आचार्य तुलसी के सामने पेश कीजिए और उनकी प्रतिक्रिया मुझे लीखिये।"

अणुव्रत-चर्या के प्रवर्तक भगवान् महावीर हैं—यह सच है। पर अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी हैं—यह भी उतना ही सच है। भगवान् ने अपने समय में अणुव्रतों के नियमों की रचना की। गृहस्थ-जीवन में उनका प्रवेश कराया। उस बात को आज ढाई हजार वर्ष हो गये। युग बदल गया। बुराइयों के रूप भी बदल गये। व्रत ग्रहण करने की परम्परा शिथिल हो गई।

आचार्य तुलसी ने व्रतों का नये रूप में वर्गीकरण किया। वर्तमान की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर उन्हें आन्दोलन का रूप दिया। उस नये वर्गीकरण और आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी हैं।

एक बार एक भाई ने पूछा—क्या अणुव्रत का आरम्भ आचार्य तुलसी ने किया है? मैंने कहा—नहीं। वह बोला—तो

फिर प्रवर्तक कैसे ? मैंने कहा—हम आचार्यश्री को अणुव्रत के नहीं किन्तु अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक मानते हैं। दूसरी बात—प्रवर्तक का अर्थ केवल प्रारम्भकर्ता ही नहीं, संचालक भी है। संचालन का दायित्व अभी आचार्यश्री के हाथों में है। इसलिए भी यह उपयुक्त है। उनको इस अर्थ में सन्देह हुआ। नालन्दा विशाल शब्द-सागर देखा। उसमें प्रवर्तक का अर्थ संचालक मिला और प्रश्नकर्त्ता को समाधान भी मिल गया।

दूसरा अध्याय

आन्दोलन के पार्श्व में

: १ :

नैतिक विकास क्यों ?

नैतिक-विकास का प्रश्न सामाजिक प्रश्न है। आध्यात्मिकता यद्यपि वैयक्तिक होती है, किन्तु आध्यात्मिकता-हीन व्यक्ति स्वतन्त्र भाव से नैतिक नहीं हो सकता। इसलिये समाज के सम्पर्क में वह नैतिकता बन जाती है। नैतिकता के विना व्यक्ति पवित्र नहीं रहता, इतना ही नहीं, किन्तु सामूहिक व्यवस्था भी नहीं टिक पाती। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रामाणिक न रहे, ईमानदार न रहे, तब सन्देह बढ़ता है। संदेह से भय और भय से क्रूरता बढ़ती है। मनोविज्ञान के अनुसार भय के दो परिणाम होते हैं—पलायन और आक्रमण।

अधिकांश लड़ाइयाँ, अभियोग, आक्रमण और युद्ध, भय के कारण होते हैं। यदि मनुष्य नैतिक रहे तो सहज ही विश्वास का वातावरण पैदा हो जाय। वर्तमान की विभीपिका और शस्त्र-निर्माण की स्पर्द्धा इसलिये तो है कि एक दूसरे के प्रति संदिग्ध है, भयभीत है और क्रूरता अनायास बढ़ रही है। नैतिक-विकास के विना इस प्रवाह को रोका नहीं जा सकता।

: २ :

नैतिकता क्या है ?

व्यापार में प्रामाणिकता रहे, मिलावट न हो, कम तौल-माप न हो—ये नैतिकता की बहुत छोटी बातें हैं। नैतिकता का मूल यह है कि अपने स्वत्व को व्यापक बनाने की वृत्ति न हो, दूसरों के अधिकारों को हड़पने की चेष्टा न हो। मूल बलहीन हो रहा है। इसलिये बहुत छोटी बातें भयङ्कर बन रही हैं। यदि इनका मूल दृढ़ होता तो इन छोटी-छोटी बातों को व्रत का रूप देने की आवश्यकता नहीं होती। व्रत संयम है। संयम का स्वरूप विभक्त नहीं होता। व्रत एक ही है, वह है अहिंसा। वैयक्तिक साधना में अहिंसा का अभिन्न रूप ही पर्याप्त था। उसका सामूहिक आचरण हुआ, तब उसकी अनेक शाखाएँ निकलीं। व्रतों का विकास हुआ। सत्य अहिंसा का नैतिक पहलू है। अपरिग्रह उसका आर्थिक पहलू है। अचौर्य और ब्रह्मचर्य उसके सामाजिक पहलू हैं। यथार्थ पर पर्दा डालने के लिए हिंसा का प्रयोग होता है, तब वह असत्य कहलाती है। पदार्थ-संग्रह के लिए उसका प्रयोग होता है, तब वह परिग्रह कहलाती है।

वासना का रूप ले वह अब्रह्मचर्य बन जाती है। चोरी का प्रश्न विकट है। युग रहा तर्कवाद का। लोग सारे मसलों को तर्क से हल करना चाहते हैं। कहा जाता है—युग बदल गया, समाज की परिस्थितियाँ बदल गईं। बदली हुई समाज-व्यवस्था में अहिंसा आदि व्रतों का कोई उपयोग नहीं रहा। वे आज अवैज्ञानिक हो गये हैं। पुराने जमाने में एक व्यक्ति को चाहे जितना धन संग्रह करने का अधिकार था। इसलिये उसकी धन-राशि का लेना चोरी माना गया। वर्तमान समाज-व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति के अधिकार निरंकुश नहीं हैं। आज मान लिया गया है कि धन का अनावश्यक संग्रह किसी के पास नहीं होना चाहिए। यदि कोई करे तो उसका धन लूट लेना चाहिए। यह चोरी नहीं है, चोरी है—अनावश्यक संग्रह करना। हो सकता है—सामाजिक व्यवस्था और उसकी मान्यता के परिवर्तन के साथ चोरी की परिभाषा थोड़ी जटिल या विवादास्पद हो जाये। पर उसका कोई अर्थ ही न रहे, यह तो तब तक सम्भव नहीं, जब तक व्यक्तिगत स्व जैसा अधिकार मनुष्य को मिला रहेगा और मनुष्य में अतृप्ति का भाव बना रहेगा।

चोरी परिग्रह का ही एक रूप है। आकांक्षा ही मनुष्य को किसी बहाने दूसरे की वस्तु लेने के लिये प्रेरित करती है। वैधानिक ढंग से वस्तु संग्रह करने में मनुष्य को माया नहीं करनी पड़ती, इसलिये वह संग्रह की प्रक्रिया कहलाती है और

अवैधानिक ढङ्ग से दूसरों की वस्तु लेने में माया का जाल बिछाना पड़ता है, विचार और कार्य की सहजता को छिपाना पड़ता है, इसलिये वह प्रक्रिया चोरी कहलाती है। वस्तु का संग्रह स्वयं सदोष है, भले फिर वह वैधानिक ढङ्ग से हो या अवैधानिक ढङ्ग से। वैधानिक ढंग से किये जाने वाले संग्रह को छोड़ने में सामाजिक प्राणी अपने को असमर्थ पाता है, किन्तु अवैधानिक संग्रह के लिये मनुष्य को बहुत ही नीचे उतरना पड़ता है, इसलिये उसे घृणित अर्थ में चोरी माना गया और संग्रह की इस प्रक्रिया से बचना आवश्यक माना गया।

समाज के तीन पहलू हैं—आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आर्थिक-आयोजन, आर्थिक व्यवस्था के लिए राजनीतिक संगठन और जीवन की उच्चता के लिये नैतिक विकास आवश्यक माना जाता है। नैतिकता का स्रोत आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता के माने हैं—आत्मा की अनुभूति और उसके शोधन का प्रयत्न। यह वैयक्तिक वस्तु है। बाहरी जगत् में व्यक्ति सामाजिक बनता है। अन्तर-जगत् में वह अकेला होता है। अकेलेपन में जो अध्यात्म होता है, वही दो में नैतिकता बन जाती है। नैतिकता अध्यात्म का प्रतिबिम्ब है।

: ३ :

क्या नैतिकता परिवर्तनशील है ?

नैतिकता का अखण्ड रूप है—आध्यात्मिकता या भौतिक आकर्षण से मुक्ति। वह है अहिंसा। अहिंसा और आध्यात्मिकता एक है, वह शाश्वत है, देश और काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नहीं होती। आध्यात्मिकता का खण्ड रूप है—नैतिकता। स्वरूपतः वह भी अपरिवर्तित है, किन्तु प्रकारों के रूप में वह परिवर्तनशील भी है। देश, काल की स्थिति के अनुसार बुराई के प्रकार बदलते रहते हैं। बुराई नया रूप लेती है, नैतिकता का रूप भी नया हो जाता है। वास्तव में अनैतिकता का रूप भी एक ही है। वह है हिंसा। हिंसा के नये प्रकार का प्रतिकार करने के लिए अहिंसा का नया प्रकार बनता है। स्वरूप न हिंसा का बदलता है और न अहिंसा का।

: ४ :

नैतिक विकास किस भूमिका पर हो ?

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। सुख का मूल है—शान्ति और शान्ति का मूल है—भौतिक आकर्षण से बचना। भौतिकता के प्रति जितना अधिक आकर्षण होता है, उतना ही मनुष्य का नैतिक पतन होता है। पदार्थ, सत्ता, अधिकार और बड़प्पन—ये भौतिक या भौतिकता से सम्बन्धित हैं। इनकी अपेक्षाएँ बढ़ती हैं, आत्मौपम्य बुद्धि मिट जाती है। प्राणी-प्राणी में या मनुष्य-मनुष्य में समता के भाव रहते हैं तो क्रूरता नहीं बढ़ती। उसके बिना अनैतिकता का पक्ष लड़खड़ा जाता है। मनुष्य-जीवन का दूसरा पक्ष रागात्मक है। उससे प्रेरित होकर मनुष्य अनैतिक कार्य करता है। जातीयता या राष्ट्रीयता के आधार पर जो नैतिकता का विकास हुआ है, उसमें उसका स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। वह जाति और राष्ट्र के सकुचित प्रेम पर टिकी हुई होती है। वह अपनी सीमा से परे उग्र-अनैतिकता बन जाती है। जो व्यक्ति अपने राष्ट्र के हितों के लिये दूसरे राष्ट्र के हितों को कुचलने में संकोच न करे, वहा

उसे नैतिक माना जाये ? जाति, भाषा, प्रान्त और राष्ट्र—ये सारे समानता और उपयोगिता की दृष्टि से बनते हैं। मनुष्य जाति एक ही है—यह बात भुला दी गई है। गोरा गोरे से प्रेम करता है और काले को पशु से भी गया-बीता समझता है। सवर्ण और असवर्ण हिन्दुओं में भी ऐसा ही चल रहा है। जातीय और राष्ट्रीय पक्षपात भी स्पष्ट है। ये स्थूल दृष्टि से अच्छे भी लगते हैं। लोग उन योरोपियनों को सराहते हैं, जो अधिक कीमत देकर भी अपने देशवासियों की दूकान से चीज खरीदते हैं। वही चीज दूसरी जगह कम कीमत से मिलने पर भी नहीं खरीदते। इसे राष्ट्रीय-प्रेम का विकास माना जाता है। पर हम थोड़े से गहरे चलें तो दीखेगा कि यह, मनुष्य जाति एक है, उसकी विपरीत दिशा है। इस कोटि की भावनाएँ ही उग्र बनकर संघर्ष और युद्ध के रूप में फूट पड़ती हैं। अपने अधिकार-क्षेत्र का विकास हो, अपनी जाति या भाषा की प्रगति हो, यह भावना यहीं तक सीमित रहे तो प्रियता को क्षम्य भी माना जा सकता है किन्तु वह प्रियता दूसरों के लिये अप्रिय परिस्थिति पैदा कर देती है, वहाँ मानव जाति की अखण्डता विभक्त हो जाती है, इसलिये वह प्रेम भी अखण्ड मानवता की दृष्टि से अप्रेम ही है और उसके आधार पर विकसित होने वाली नैतिकता भी स्वतन्त्र मूल्यों की दृष्टि से अनैतिकता ही है, इसलिये अणुव्रत-आन्दोलन का यह प्रयत्न है कि नैतिकता का विकास केवल आध्यात्मिकता के आधार पर

हो। दूसरों के अहित की चेष्टा करने से भले फिर दूसरों का अहित न हो, स्वयं उसी का अहित होता है इसलिये दूसरों के अहित की चेष्टा से बचा जाय—यह आध्यात्मिकता है। इसके आधार पर जो नैतिक-विकास होता है, वह किसी के लिये भी खतरनाक नहीं होता। यह मानव की ही नहीं किन्तु प्राणीमात्र की रक्षा की दिशा है। यह विचार जितना दार्शनिक है, उतना ही वैज्ञानिक है। इसकी प्रक्रिया निश्चित है। इतिहास साक्षी है कि जाति, भाषा, प्रान्त और राष्ट्र को मनुष्य ने ही जन्म दिया और आगे जाकर उसकी कृतियाँ ही उसके लिये अभिशाप बनी—संघर्ष और संहार का कारण बनीं। राष्ट्र और क्या है? व्यक्ति के स्वार्थों का विस्तार-क्षेत्र है। परिवार में स्वार्थों का विस्तार होने लगा और वह होते-होते राष्ट्र तक होता चला गया। यह स्वार्थ या भोग के विस्तार की दिशा है। इस दिशा में अन्तर-राष्ट्रीयता की भावना भी विशेष मूल्यवान् नहीं है। आध्यात्मिकता इसकी विपरीत दिशा है। उसका स्वरूप है—स्वार्थ-त्याग या भोग-त्याग। अपने हित के लिये, अपनी शान्ति के लिये स्वार्थ और भोग का संयम कीजिये, नैतिकता का विकास अपने आप होगा :

"सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से उसका असर राष्ट्र पर हो।
जाग उठे जन-जन का मानस, ऐसी जागृति घर-घर हो।।"

अनैतिकता के मूल को उखाड़ फेंको

अनैतिकता आर्थिक और राजनैतिक वातावरण के वैपम्य से उद्भूत होती है—ऐसा माना जाता है। इसमें कुछ सचाई भी हो सकती है पर अवाधित (वाधा रहित) सचाई नहीं है। अनैतिकता भोग-वृत्ति से पैदा होती है, भोग की सामान्य मात्रा प्रत्येक सामाजिक प्राणी में होती है। उससे वैपम्य नहीं आता। भोग की मात्रा वढ़ती है, तभी आर्थिक और राजनैतिक वातावरण का वैपम्य वढ़ता है। उससे अनैतिकता को उत्तेजना मिलती है। जो लोग अनैतिकता का मूल आर्थिक और राजनैतिक वैपम्य में ढूँढ़ते हैं, भोग-वृत्ति के नियन्त्रण की ओर ध्यान न देते हुए सिर्फ आर्थिक और राजनैतिक वैपम्य का निवारण किया चाहते हैं, उन्होंने वुराई की जड़ को नहीं पकड़ा है। भोग-वृत्ति प्रवल रहेगी तव वैपम्य मिटेगा कैसे? यह आलोचनीय विपय का महत्वपूर्ण मुद्दा है। आर्थिक समता का प्रयत्न होता है, कुछ व्यवस्था वनती है। समय वीतता है। उभरी हुई भोग-वृत्ति फिर उस पर छा जाती है। वातावरण विपम वन जाता है। भोग के लिये शक्तियोग की उपासना लगभग समूचे मानव-समाज में परिव्याप्त है। आर्थिक और राजनैतिक समता तक पहुंचने का प्रयत्न समाज के लिये वुरा नहीं है पर वह केवल यात्रा का विश्रान्ति गृह है—इसे नहीं भुलाना है। आखिर वहाँ तक चलना है, जहाँ अनैतिकता की जड़-भोग-वृत्ति पैर रोपे वैठी है। उसे उखाड़ फेंकना है। व्रत का साध्य यही है।

: ६ :

नैतिकता की जड़ को मजबूत किया जाय

समाज का समतापूर्ण और स्थिर आर्थिक और राजनैतिक ढाँचा ही नैतिकता का आधार है—यह भी अर्द्ध-सत्य है। लड़खड़ाती हुई आर्थिक स्थिति में भी त्याग के संस्कारों में पलने वाले लोग अनीति से परे रहे हैं और रहते आ रहे हैं। आर्थिक साम्य में भी अपराधों का लम्बा सूचीपत्र बनता है। इन दोनों स्थितियों को अन्तिम छोर या आपवादिक[1] घटनाएँ नहीं कहा जा सकता। यह सचाई है। इसी के सहारे हमें नैतिकता का आधार ढूँढ़ना है। बुराई न करने में अपनी भलाई का विश्वास, बुराई का बुरा फल भोगने के निश्चित नियम का विश्वास, आत्मा के अमरत्व का विश्वास, ये तीन विश्वास नैतिकता के आधार हैं। इनका विकास किये बिना नैतिकता का प्रतिष्ठापन नहीं किया जा सकता। समाजार्पण[2] और सामाजिक एकता की दृढ़ भावना भी नैतिकता का स्थूल

१—विशेष स्थिति में होने वाली।

२—समाज के लिए अपना अर्पण।

आधार वन सकती है पर इस आधार पर नैतिकता व्यापक नहीं हो सकती। वह अपने समाज और राष्ट्र तक ही सीमित होती है। वह दूसरों के प्रति अधिक अनैतिक-क्रूरता के रूप में उभर आती है, जैसा कि वहुत सारे भौतिक-विचार प्रधान राष्ट्रों में हो रहा है। यही हाल आर्थिक और राजनैतिक साम्य के आधार में बंध जानेवाली नैतिकता का है। इसलिये हमें पथ की लम्बाई को कम नहीं नापना चाहिये। नैतिकता के सही आधार को प्रकाश में लाया जाये और उसके संस्कार दृढ़मूल किये जायें—यह वहुत बड़ी अपेक्षा है।

: ७ :

आन्दोलन की आधार-भूमि अहिंसा

आन्दोलन की आत्मा व्रत है। व्रत के मौलिक विभाग पाँच है। शेष सब उनकी व्याख्याएँ है। पाँचों में भी मूल-भूत व्रत एक अहिंसा है। सत्य आदि उसी के पहलू हैं।

आन्दोलन के कुछ विषयों का सम्बन्ध सामाजिक क्षेत्र से है। वे अहिंसा को उत्तेजना देते है। इसलिए उनके संवरण की ओर संकेत किया गया है। दहेज में जीव-हिंसा का सीधा प्रसंग नहीं है। पर हिंसा का मतलब केवल जीव-वध ही नहीं है, उसका मुख्य सम्बन्ध मनुष्य की वृत्तियों से है। वृत्तियाँ लोभपूर्ण बनती है। वे सहज ही हिंसा की ओर झुक जाती हैं। हिंसा के प्रमुख कारणों से बचे बिना हिंसा से नहीं बचा जा सकता।

कुछ लोग ब्याज को अहिंसक व्यापार मान बैठे है, और कुछ लोग सट्टे को। खेती में हिंसा दीखती है। व्यापार में चाहे जितनी क्रूर-वृत्ति हो, वह हिंसा नहीं लगती। तात्पर्य कि हिंसा की मान्यता जीव-वध के साथ जुड़ी हुई है, वैसी वृत्तियों

के साथ जुड़ी हुई नहीं है। अणुव्रत-आन्दोलन वृत्ति के परिशोधन को प्रधान मानकर चलता है। जीव-वध का हेतु भी अशुद्ध-वृत्ति है। वह छूटती है तो जीव-वध की प्रवृत्ति भी छूट जाती है।

चोरी क्या है? शोषण क्या है? इन सारे प्रश्नों का समाधान अहिंसा की पार्श्व-भूमि में ही ढूँढ़ना चाहिये।

विस्तार में जायें तो चोरी, शोषण आदि बुराइयाँ छूटें, यह अभिप्रेत है।

संक्षेप में, हिंसा को उत्तेजना देनेवाली प्रवृत्ति छूटे, फिर भला उसका कोई नाम हो या न हो। इस प्रकार अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा की भूमि पर पनपने वाला एक अनुष्ठान है।

: ८ :

क्या अहिंसा सफल हो सकती है ?

लोग दण्ड शक्ति से परिचित हैं, इसलिए उसमें विश्वास जमा हुआ है। अहिंसा में जो शक्ति है, वह हिंसा या दण्ड में नहीं है। पर दूसरों के नियंत्रण के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। दूसरों का नियंत्रण दण्ड-शक्ति ही कर सकती है। इसलिए लोग चाहते हैं, दण्ड की शक्ति चलती रहे। उसके बिना अराजकता की स्थिति हो जायेगी।

अनेक राष्ट्रों में अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न के विरोध में हिंसक क्रान्तियाँ हुईं। वे अपने लक्ष्य में सफल हुईं। विश्वास दृढ हो गया कि हिंसा सफल होती है। हिंसा की सफलता का मतलब है—भौतिक-लक्ष्य की पूर्ति।

आज अहिंसा की सफलता का मानदण्ड भी वही है। आर्थिक कठिनाइयों को मिटा सके तो अहिंसा सफल हुई, माना जायेगा और उन्हें न मिटा सकी तो विफल। सचमुच यह भूल हो रही है, अहिंसा को लक्ष्यहीन किया जा रहा है। अहिंसा का लक्ष्य जीवन-शोधन है। उसे अधिक प्रभावशाली

किया जाय तो कठिनाइयों को पार करने का द्वार अपने आप खुलता है। अहिंसा का प्रयोग आर्थिक गुत्थी को सुलझाने के लिए किया जाये तो उससे परोक्षतः हिंसा को ही सहारा मिलता है।

आर्थिक समस्या के समाधान का सूत्र 'सामाजिक साम्य' हो सकता है। अहिंसा का स्वरूप पवित्रता है, इसलिए वह व्यापक होने पर भी वैयक्तिक है। व्यवस्था का स्वरूप नियंत्रण है। उसमें स्थिति के समीकरण की क्षमता है। इसलिए व्यवस्था के परिणाम से अहिंसा को नहीं आंकना चाहिए। उसकी सफलता जीवन की पवित्रता में निहित है। स्वतन्त्रता की रक्षा अहिंसा से हो सकती है। हिंसा या दण्ड-शक्ति की मात्रा जितनी बढ़ती है, उतनी ही परतन्त्रता बढ़ती है। मानवीय सफलता का सर्वाधिक उत्कर्ष स्वतन्त्रता है और वह अहिंसा के द्वारा ही लभ्य है।

: ६ :

अनन्त आनन्द का सतत प्रवाही स्रोत

अहिंसा और हिंसा ये दो विरोधी प्रवाह हैं। इनकी धाराएँ कभी मिलती नहीं। एक जीवन में दो धाराएँ हो सकती है। एक वृत्ति में दोनों नहीं हो सकतीं। अहिंसा आत्मा की स्वाभाविकता और जीवन की उपयोगिता है। हिंसा जीवन की अनिवार्यता या अशक्यता और आत्म-शक्ति के अल्प-विकास की दशा में पनपनेवाली बुराई है।

आत्मा, शरीर, वाणी और मन (या आत्मा और शरीर) की सहयोगी स्थिति का नाम जीवन है। इस सहयोगी स्थिति का अधिकारी जो होता है, वह व्यक्ति कहलाता है। जीवन स्व (आत्मा) और पर (शरीर, वाणी और मन) का संगम है। व्यक्ति भी स्व-पर के संगम से बनी हुई संस्था है। जीवन का स्व-अंश स्वभाव और पर-अंश विभाव है। वास्तव में स्वाभिमुखता या स्वरमण है, वही अहिंसा है। पराभिमुखता या पदार्थाभिमुखता विभाव, विकार या हिंसा है।

स्वभाव का विकास शुरू होते ही विभाव एकदम चला नहीं जाता। स्वभाव की मात्रा कम होती है, विभाव सताता है, अशान्ति और उद्वेग लाता है। स्वभाव की मात्रा बढ़ती है— मन, वाणी शरीर और पदार्थ के प्रति नियन्त्रण शक्ति बढ़ती है, तब विभाव उतना सताता नहीं। फिर जीवन की दिशा और गति स्वयं स्वभावोन्मुख हो जाती है।

अहिंसा विशाल होती है। हिंसा सीमा से परे नहीं हो सकती। एक व्यक्ति दूर होकर भी "सबका हिंसक बन जाये"— उतना क्रूर नहीं होता। उसकी हिंसा की भी एक निश्चित रेखा होती है। वह अपने राष्ट्र, समाज, जाति या कम-से-कम परिवार का शत्रु नहीं होता। वह हर क्षण क्रियात्मक हिंसा नहीं करता। व्यक्ति क्रोध करता है पर क्रोध ही करता रहे— ऐसा नहीं होता। मान, माया और लोभ की परम्परा भी निरन्तर नहीं बढ़ती। क्रोध की मात्रा बढ़ती है, व्यक्ति में पागल-पन छा जाता है। मान, माया और लोभ की बढ़ी हुई मात्रा भी शान्ति नहीं देती। थोड़े में समझिये हिंसा को सीमित किये बिना व्यक्ति जी नहीं सकता।

अहिंसा विशाल है, अनन्त है, बन्धन से परे है। कोई समूचे जगत् के प्रति अहिंसक रहे तो रहा जा सकता है। अहिंसा की मात्रा बढ़ती है, प्रेम का धरातल ऊँचा और निर्वि-कार होता है, उससे आनन्द का स्रोत फूट निकलता है।

अहिंसा अनन्त और अनन्त आनन्द का सतत् प्रवाही स्रोत

है, फिर भी मनुष्य का स्वभाव उसमें सहजतया नहीं रमता। इसका कारण नियन्त्रण-शक्ति का अभाव है। मन, वाणी और शरीर की निरंकुश-वृत्तियों का प्रतिरोधन करने की आत्म-शक्ति का जितना कम विकास होता है, उतना ही अधिक हिंसा का वेग बढ़ जाता है। हिंसा की मर्यादाएँ कृत्रिम होती है। उनमें तड़क-भड़क और लुभावनापन भी होता है। अहिंसा में दिखावटीपन या बनावटीपन नहीं होता। वह आन्तरिक मर्यादा है। वह आती है, सभी व्यक्ति का व्यक्तित्व—जीवन की स्वतन्त्रता निखरती है। आचार्यश्री तुलसी ने अपने एक प्रवचन मे कहा—"आत्मानुवर्ती-नियमानुवर्ती यानी अहिंसक ही वास्तव में स्वतन्त्र है।"

मनुष्य बुराई करते नहीं सकुचाता। इसीलिए दुनियाँ का प्रवाह विकार की ओर है। भोग और इन्द्रियों की दासता बढ़ रही है। कहा जाता है—प्रकृति-विजय की ओर मनुष्य सफल अभियान कर रहा है। पर यह तथ्यहीन दावा है। पानी और अग्नि पर विजय प्राप्त करना ही प्रकृति-विजय नहीं है। शरीर, वाणी और मन को जीते बिना प्रकृति नहीं जीती जा सकती। स्व-विजय के बिना प्रकृति-विजय वरदान न बन अभिशाप बन जाती है। स्व-विजय का प्रयत्न बहुत थोड़ा होता है; इसीलिए भोग सता रहे है, विकार और हिंसा बढ़ रही है। एक की दूसरे के साथ स्पर्धा है। वातावरण भय से भरा है। अहिंसा का दूसरा पहलू अभय है। अपनी मौत से डरना भी

हिंसा है। जो दूसरों को पराधीन रखना चाहते हैं, हीन बनाये रखना चाहते हैं, जातिगत भेदभाव रखते हैं, छुआ-छूत, ऊँच-नीच और काले-गोरे के पचड़े में फँसे हुए हैं, उन्हें देखिये वे अभय नहीं हैं, शान्त नहीं हैं। जिनकी भोग-लिप्सा बढ़ी हुई है, जो परिग्रह के पुतले और शोषण के पुञ्ज बने हुए हैं, उनसे पूछिये, उन्हें कितनी शान्ति है? शान्तिपूर्ण जीवन वही बिता सकता है, जो ऊपर की बुराइयों से दूर है। बुराई से दूर वही रह सकता है जिसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति या स्व-नियन्त्रण का पर्याप्त विकास होता है।

: १० :

संख्या और व्यक्तित्व

किसी भी स्थिति का आकलन करने के लिये संख्या का उपयोग होता है। अणुव्रत-आन्दोलन जन-मानस को कितना छू रहा है, इसकी जानकारी के लिये अणुव्रतियों की संख्या की जाती है। पर आन्दोलन का विश्वास संख्या में नहीं, व्यक्तित्व में है। व्रत की सफलता चरित्र के विकास से नापी जाती है। चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति संख्या में भले ही थोड़े हों, समाज के लिये पथ दर्शक बन सकते हैं। व्रतों को स्वीकार कर उनके आचरण से जी चुराने वाले, आन्दोलन को प्रभावशाली नहीं बना सकते और अपना भी भला नहीं कर सकते। आन्दोलन की भावना जन-जन तक पहुँचनी चाहिये। फिर कोई अणुव्रती बने या न बने, इसकी चिन्ता आन्दोलन के संचालकों को नहीं होनी चाहिये। जो अणुव्रती बने, उन्हें मार्ग-दर्शन मिले—इस दृष्टि से संख्या करना उचित लगता है।

: ११ :

संघटन या विघटन

संयम का अर्थ ही विघटन है। इसका मूल व्यक्तिवाद है। व्यक्ति का अपने लिए अपने पर अपना जो नियंत्रण है, वह संयम है। उसका संघटन हो ही नहीं सकता। अणुव्रत-आन्दोलन कोई संघटन नहीं है। इसमें पद और पदाधिकारी भी नहीं हैं। यह व्रतों के अनुशीलन की समान भूमिका है।

कुछ लोग अपने को (अवस्था या पद-मर्यादा में) बड़ा मानते हैं। वे व्रत लेने में सकुचाते हैं। उनके विचार से व्रत लेने की आवश्यकता छोटों को ही है। किन्तु यह विचार सही नहीं लगता। व्रत मन का दृढ़ संकल्प है। संकल्प की दृढ़ता के विना बुराई से बचना सरल नहीं है। बड़ों का संकल्प सहज-भावतया दृढ़ ही होता है—ऐसा नहीं मान लेना चाहिये। सम्भव है, संकल्प होने पर भी कहीं-कहीं व्यक्ति फिसल जाये। पर संकल्पहीन के फिसलने में तो कहीं बाधा ही नहीं है। संकल्प एक सहज आलम्बन है, जो व्यक्ति को फिसलने से बचाता है। संकल्प वाले व्यक्ति बहुत होते हैं। तब बाहरी रूप में सहज ही एक संगठन होता है। वे सब अपनी अपनी पवित्रता में विश्वास रखने वाले हैं। इसलिये वास्तव में उनका संघटन विघटन ही है।

: १२ :

श्रद्धा और झुकाव का विरोध मिटाने के लिये संयम का घोष

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह जीवन को उन्नत बनाने वाले तत्त्व हैं, यह श्रद्धा जमी हुई है। इनके आचरण में मान्यता का कोई विरोध नहीं है। विरोध है मानसिक झुकाव का। इन्द्रिय और मन विषय के प्रति खिंचे रहते हैं। मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में उनका आकर्षण होता है। उनकी प्राप्ति के लिए धन की जरूरत होती है। अहिंसा और सत्य मान्यता-मात्र रह जाते हैं। आचरण के तत्त्व बन जाते हैं हिंसा और असत्य।

भोग-वृत्ति का संयम किये बिना मान्यता और आचरण में एकरूपता नहीं आ सकती। उनकी एकरूपता के लिये त्याग या संयम पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। "संयमः खलु जीवनम्" संयम ही जीवन है, इस घोष का आधार यही तथ्य है।

: १३ :

नकारात्मक दृष्टिकोण

साध्य परोक्ष रहता है। लोग उसकी दिशा में चलते हैं, साधन की दिशा-सुई के सहारे। परोक्ष साध्य व्यामोह का हेतु बने, यह अचरज की बात नहीं। अचरज यह है, साधन में व्यामोह जो आये। मनुष्य-जीवन का साध्य है—उदय या विकास। उदय के बाद अस्त और अस्त के बाद उदय होता है—यह निसर्ग जैसा है। मनुष्य चैतन्य का धनी है, इसलिये उसमें अति निसर्ग तक पहुँचने की गति है। फिर भी यह सरल नहीं। मनुष्य का चैतन्य अनेक संस्कारों से दबा रहता है। अस्त न हो, उदय बना रहे, यह स्थिति संस्कार-शून्य दशा या निर्विकल्प समाधि में बनती है। संस्कारी जगत् की गति संस्कारों के पीछे है।

मनुष्य सोच सकता है, इसलिये वह चाहता है—उदय हो। स्वार्थी अपना उदय चाहता है। कोई परिवार का, कोई समाज का, कोई राष्ट्र का और कोई सबका उदय चाहता है। उदय की स्थिति एक नहीं, भाषा एक नहीं।

उदय परमार्थ-सापेक्ष होता है, और पदार्थ-निरपेक्ष। स्वार्थ-निरपेक्ष उदय मे आत्मा मे स्वार्थ और परमार्थ में द्वैध नहीं रहता। यह है आत्मा का उदय, जो निवृत्ति या संयम का फलित रूप है।

आत्म-इतर या आत्म-विजातीय पदार्थ के अभाव में यह पूर्ण बनता है और उनका संयोग ममकार बढाता है, ममकार उसे आवरण बन ढाँक लेता है। यह है आत्मा में आत्मा का अनुदय, जो पदार्थ प्रतिबद्ध ममकार से बढ़ता है।

पदार्थ-सापेक्ष उदय पदार्थ से जुड़ा हुआ है। इसकी कल्पना का आधार पदार्थ-मात्रा का तरतम भाव है। पदार्थ का यथेष्ट भाव है, तात्पर्य कि उदय है। अनुदय का अर्थ है पदार्थ का अभाव।

जीवन के दो पहलू है—आत्मा या चैतन्य और पदार्थ या अचेतन। दोनों के उदय की कल्पनाएँ एक दूसरे के विपरीत है—

१—पदार्थ-भाव—आत्मा का अनुदय।

२—पदार्थ-भाव—सायोगिक उदय।

१—पदार्थ-अभाव—आत्मा का उदय।

२—पदार्थ-अभाव—सायोगिक अनुदय।

शुद्ध या शरीरमुक्त आत्मा में उदय या अनुदय की कल्पना से हमें कोई तात्पर्य नहीं। वह हमारी दृष्टि से परे है। पदार्थ अचेतन है, उनका उदय या अनुदय क्या हो? उदय या अनुदय

की कल्पना शरीर-धारी-जीव और पदार्थ दोनों के संयोग से बनती है।

लौकिक विचार है—मनुष्य को जो चाहिये वह मिल जाय-यह उदय है। मोक्ष-दृष्टि के अनुसार यह अन्तरंग की शुद्धि नहीं है। जो अन्तरंग की शुद्धि नहीं, वह उदय नहीं। दो दृष्टियाँ हैं, दोनों के आधार पृथक्-पृथक् हैं। यह बौद्धिक विश्लेषण है, जो वस्तु-स्थिति को स्पष्ट करता है। व्यवहार में दैहिक जीवन पदार्थ से बचकर चलता नहीं। जहाँ जीवन, वहाँ पदार्थ का संयोग है और जहाँ पदार्थ-संयोग है, वहीं जीवन है—यह पूरी व्याप्ति है।

जीवन के लिये पदार्थ-संयोग अनिवार्य है और पदार्थ-संयोग के लिये श्रम।

श्रम आत्मिक धर्म नहीं, दैहिक धर्म है। देह निर्वाह के लिये वह श्वास की भाँति आवश्यक है। आत्मिक धर्म इसका सहवर्ती होना चाहिये। आवश्यकता न छूटे, यह दैहिक अशक्यता है किन्तु संग्रह और ममकार की वृत्ति न बढ़े, शोषण और अपहरण का भाव न आये, सबसे अधिक सुखी और ऊँचा बनने की भावना न जागे, इसलिये प्रत्येक दैहिक-प्रवृत्ति पर आत्मिक धर्म का नियमन अपेक्षित है। आत्मिक धर्म पदार्थ-निरपेक्ष होता है, इसलिए वह दैहिक-प्रवृत्ति को भी अनन्त की ओर नहीं बढ़ने देता। अति भोगवाद और अति संग्रहवाद जो चलता है, वह आत्मिक धर्म के अभाव में ही

चलता है। कोई व्यक्ति भोग्य-पदार्थ और उसकी आवश्यकता बढ़ाये—यह किसलिये ? तृप्ति के लिये। तृप्ति का चरम रूप अ-भोग में है। भोग से क्षण भर के लिये तृप्ति की प्रतीति होती है, किन्तु सही अर्थ में उससे अतृप्ति का संस्कार बलवान् बनता है। प्रत्येक बार का भोग क्षणभर के लिये अतृप्ति को दबा उसे स्थायित्व दे जाता है। तम्बाकू का व्यसनी तम्बाकू पी तृप्ति नहीं पाता, किन्तु तम्बाकू पीने के संस्कार को स्थायी अवश्य बनाता है। अतृप्ति संस्कारगत है। उसके पर्यवसान में अतृप्ति का पर्यवसान है। इसके लिये विरति या निवृत्ति, संयम या अक्रियता की अपेक्षा आती है। पूर्ण सम्वर के बिना मुक्ति नहीं यानी मुक्ति का अर्थ है—दैहिक कर्मण्यता का सर्व अभाव। पूर्ण सम्वर मुक्ति का मार्ग नहीं स्वयं मुक्ति है। मुक्ति का मार्ग है—संयम का क्रमिक विकास। यह कठिन साधना है। दैहिक जीवन में अदैहिक भाव सतत नहीं चलता। प्रवृत्ति अनिवार्य है। इसलिये निवृत्ति को प्रवृत्ति के साथ घसीटना पड़ा। वह प्रवृत्ति के साथ दो रूप में जुड़ी। प्रवृत्ति को सत् बनाने के लिये और उसे सीमित करने के लिये। प्रवृत्ति, मात्र दैहिक-अनिवार्यता रहे, उसके सहचारी राग, द्वेष या असंयम के संस्कार सक्रिय न हों, आत्मा में संयम की इतनी मात्रा बढ़ जाय, तब प्रवृत्ति सत् या सीमित बन जाती है। उसका असत्-अंश जो कि आत्मिक असंयम से आता है, मिट जाता है। आत्मिक विशुद्ध चिन्तन से प्रेरित हो वह सत् बन जाती है।

असंयम की परिधि में जो प्रवृत्ति चले, वह सत् नहीं बनती। निवृत्ति उसे सीमित बनाती है। व्यापार एक प्रवृत्ति है। व्यापार शब्द को मैं रूढ़ि में नहीं ले जा रहा हूँ। जीविका के साधन मात्र व्यापार हैं। जीविका जीवन की पहली मंजिल है। यह छूट नहीं सकती। किन्तु जीवन की आवश्यकताओं का अल्पीकरण, आवश्यकता पूर्ति के स्रोतों की सीमा और स्रोतगत बुराइयों का नियमन किया जा सकता है और किया जाना चाहिये। नहीं तो मनुष्य अपनी निरंकुश या असीम प्रवृत्ति का स्वयं ग्रास बन जाता है। यह है अणुव्रत भावना की पृष्ठ-भूमि। इसलिये निवृत्ति या पदार्थ-निरपेक्ष उदय की भूमिका पर चलने वाला अणुव्रत-आन्दोलन नकारात्मक हो— यह स्वाभाविक है।

प्रवृत्ति जीवन की विवशता का पक्ष है और निवृत्ति शुद्धि का। प्रवृत्ति में शुद्धि की जितनी मात्रा होती है वह निवृत्तिप्रदत्त होती है। हिंसा के साथ अहिंसा की मात्रा न रहे तो वह एक क्षण में विश्व को भस्म कर डाले। निवृत्ति के विकास का अर्थ यह है कि अहिंसा की मात्रा बढ़े। इसलिए प्रवृत्ति के क्षेत्र में संयमी व्यक्ति नकार की भाषा में ही बोल सकता है।

प्रवृत्ति का कर्मक्षेत्र सामाजिक जीवन है या यूँ कहना चाहिए समाज के लौकिक जीवन का जो पहलू है, वह प्रवृत्ति का कर्मक्षेत्र है। भूलिये मत, हिंसा और अहिंसा के लिये समाज का कोई पृथक्-पृथक् निर्वाचित क्षेत्र नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति हिंसा

और अहिंसा की आधार-शिला है। किन्तु दोनों का स्वरूप एक नहीं है। सूक्ष्म-दृष्टि में आधार भी एक नहीं है। व्यक्ति की जो वृत्ति अहिंसा है वही हिंसा और जो हिंसा है वही अहिंसा नहीं बनती। किन्तु स्थूल दृष्टि से दोनों वृत्तियाँ एक ही व्यक्ति में बनती हैं, इसलिए हम एक ही व्यक्ति को उन दोनों का आधार मान लेते हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है— 'जीवन का लौकिक पहलू कैसे रहे'—यह शिक्षा-क्षेत्र समाज के लौकिक पक्ष के सूत्रधार व्यक्तियों का है। समाज का लोकोत्तर या आत्मिक-पक्ष कैसा हो ? यह दायित्व संयमी साधकों का है। संयमी—असंयमी की प्रवृत्ति का विधान करे—यह उसकी मर्यादा नहीं। उसकी मर्यादा है—प्रवृत्ति में जो असंयम की मात्रा बढ़े, अनावश्यक हिंसा बढ़े, उसे रोकने के लिए समाज को संयम की भावना दे। आवश्यक हिंसा बढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह जीवन की अशक्यता के कारण छूट नहीं सकती तो घट भी नहीं सकती। जो बढ़ती है, वह फिर आवश्यक हिंसा नहीं रहती, वह अनावश्यक हिंसा हो जाती है।

मित्र को न मारे, अहिंसा यही नहीं। उसकी मर्यादा में शत्रु की कल्पना है कहाँ ? जहाँ शत्रु की कल्पना है, वहाँ अहिंसा कैसी ? इसलिए किसी को न मारे, यह अहिंसा है। समाज इतना समर्थ बन जाय तो बात ही क्या ? फिर कोई समस्या नहीं। ऐसी स्थिति नहीं बनती है, तब तक आक्रमण

अहिंसा-शक्ति से विफल नहीं किया जा सकता। तब हिंसा चलती है, यह है विरोधी हिंसा या प्रत्याक्रमण की हिंसा। यह आवश्यक मानी जाती है, इसलिए क्या संयम की परिधि में उसे स्वीकारोक्ति मिले? नहीं। यह सत्य से परे है। संयम की भाषा यह होगी—जिस हिंसा के त्याग को तुम असम्भव मानते हो, उससे नहीं बच सकते तो कम से कम उस हिंसा से तो अवश्य बचो जिसे त्यागना तुम्हारे लिए सम्भव है। सम्भव है साधना बढ़ते-बढ़ते असम्भव लगनेवाली अहिंसा भी सम्भव बन जाय। कोई समाज उपयोगिता की दृष्टि से ब्याज को न्याय मानता है, उसे न छोड़ सके तो कम से कम निर्धारित दर से अधिक ब्याज तो न ले।

न्याय और अन्याय की परिभाषा आत्मिक नहीं है। यह समाज की सामयिक आवश्यकता से फूट पड़ने वाली व्यवस्था है। अहिंसा की भूमिका में संग्रह-मात्र अवैध है। लौकिक पक्ष सर्व-असंग्रह को स्वीकार नहीं करता। अति-संग्रह भी उसके हित में नहीं। इसलिए वहाँ संग्रह के स्रोत दो रूप लेते हैं—वैध और अवैध। अपनी आजीविका न रुके और दूसरे की न टूटे, वह वैध और इससे जो विपरीत चले वह अवैध। लोग इस भावना को भूल जाते हैं, व्यामोह में फँस अवैध स्रोत द्वारा धन टानना चाहते हैं, तब संयम की नकार ध्वनि उठती है—कम से कम अवैध को तो त्यागो। यूँ नकार की भाषा एक मर्यादा है, जो प्रवृत्ति का नियमन करती है।

अणुव्रत आन्दोलन की नियमावली में केवल निषेध है। लोग कहते हैं—यह क्या ?—'मत करो, मत करो' यही क्यों ? 'यह करो', यह भी तो आना चाहिए। असयम की भाषा मे 'ऐसे करो' यूँ ही मिलता है। अणुव्रती की भाषा सयम की भाषा है। इसलिए इसमें 'मत करो' यही मुख्य है। 'मत करो' के पीछे साधना का बल चाहिए। इसलिए यह प्रेरणा सापेक्ष है। 'करो' इस प्रेरणा की कोई अपेक्षा नहीं। जो आवश्यकता है, यह अपने आप प्रवृत्ति करायेगी। 'मत करो' यह सहज आवश्यक प्रतीत नहीं होता। इसलिए इस पर अधिक शक्ति लगाने की अपेक्षा है।

'करो' इसमे कार्य विधि के औचित्य की अपेक्षा होती है। किन्तु सयम अपनी भूमिका से हटकर असयम के औचित्य का विधान कर नहीं सकता। सयम की दृष्टि मे असयम का औचित्य—असयम की दृष्टि से भले ही औचित्य हो—औचित्य नहीं है। असयम के अनौचित्य और औचित्य में सयम को मात्रा भेद स्वीकार्य है किन्तु उसका स्वरूप भेद होता है। सयम केवल असयम की अनियमितता को नियमित कर सकता है। किन्तु उसके साथ समझौता नहीं कर सकता—तदात्म नहीं बन सकता।

नकार की भाषा मे नैराश्य है और इससे लौकिक अभ्युदय मे बाधा आती है, यह प्रश्न तर्क सगत नहीं और इसलिए नहीं कि नकार का स्वरूप और कार्य एक है, फिर भी उसकी मात्रा

एक नहीं है। पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में इसकी पृथक्-पृथक् मात्रा होती है। व्यक्ति की भूमिका, परिवार की भूमिका, समाज की भूमिका और राष्ट्र की भूमिका—ये कुछ भूमिकाएँ हैं। व्यक्ति-व्यक्ति की सीमा में जितना स्वतन्त्र है उतना परिवार में नहीं। समाज की सीमा में उससे अधिक और राष्ट्र की सीमा में उससे भी अधिक परतन्त्र बन जाता है। जो व्यक्ति केवल व्यक्ति ही नहीं, पारिवारिक भी है, सामाजिक भी है और राष्ट्रीय भी है वह परिवार, समाज और राष्ट्र की उपेक्षा कर नहीं सकता। यानी उनकी उपेक्षा कर व्यक्ति-व्यक्ति रह सकता है, सामाजिक और राष्ट्रीय नहीं रह सकता। इसलिए इन भूमिकाओं में नकार की मात्रा अलग-अलग होती है। जैसे एक व्यक्ति प्रतिज्ञा लेता है—जहाँ तक अपना प्रश्न है, मैं युद्ध नहीं लड़ूँगा, राष्ट्रीय आवश्यकता होगी तो मैं वह लड़ूँगा। व्यक्तिगत संयम को राष्ट्रीय भूमिका में नहीं रख पाता, इसका अर्थ यह है—वह राष्ट्र की व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। एक संयमी या साधक है, वह किसी भी दशा में नहीं लड़ सकता क्योंकि उसकी भूमिका कुछ और है। सही अर्थ में भूमिका के अनुरूप निषेध के द्वारा लौकिक अभ्युदय में कोई बाधा आती नहीं। और जो लौकिक अभ्युदय की असीम कल्पना है वह पूरी न हो तो कुछ आपत्ति जैसी बात नहीं लगती। जो संयम को न मान कर चले और साम्राज्य-विस्तार, जाति-विस्तार और पदार्थ-विस्तार करके अधिक सुखी बने, ऐसा तो नहीं दीखता।

जो लोग आवश्यकता की पूर्ति को सीमातिरेक मूल्य देते हैं, उनकी दृष्टि में अणुव्रत-आन्दोलन रूखा है और है भी तो पदार्थ-निरपेक्ष है। इसलिये सामाजिक व्यक्ति आवश्यकता का मूल्य छोड़ नहीं सकता किन्तु शुद्धि का मूल्य उसके लिए उससे कहीं अधिक होना चाहिए। यह समझ कर चले, उसके लिए यह सबसे अधिक मूल्यवान् है।

समाज में हिंसा और अहिंसा ये दोनों तत्व रहते हैं। कोई भी समाज पूरा अहिंसक नहीं बनता तो पूरा हिंसक भी नहीं बनता। हिंसक और अहिंसक समाज की जो कल्पना है, उसका आधार समाज का दृष्टि-बिन्दु है। जो समाज जीवन की आवश्यकता पूर्ति को ही मुख्य और उसकी शुद्धि को गौण मानकर चले—यह हिंसा की ओर गति है। आवश्यकता पूर्ति की भाँति—शुद्धि *या साधन के नियमन* को भी जो अनिवार्य मानकर चले, वह समाज अहिंसक है। अणुव्रत-आन्दोलन की इस अर्थ में अहिंसक समाज-रचना की कल्पना है।

लोग मानते हैं—समाज में दुश्चरित्र प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण बढ़ता है। कुछ अंशों में यह ठीक भी है। किन्तु दुश्चरित्र-वृद्धि का यही एकमात्र हेतु है, यह नहीं माना जा सकता। मनुष्य की वासनाएँ और संस्कार परिस्थितियों से अधिक प्रबल कारण हैं। अणुव्रत-आन्दोलन की दृष्टि यह है कि संस्कारों पर विजय की जाय।

संयम या त्याग का दूसरा पहलू और है। परिस्थितियाँ अनुकूल हों, जीवन की चालना के साधन यथेष्ट-प्रमाण में सुलभ हों, वहाँ भी संयम आवश्यक होता है। इसलिए होता है कि जीवन विलासी न बने। अभाव में जैसे संग्राहक वृत्तिजन्य दुश्चरित्र अति मात्रा में बढ़ता है, वैसे भाव में विलासजन्य दुश्चरित्र की मात्रा बढ़ती है। इसलिए संयम की अपेक्षा दोनों में समान है। इसलिए इस आन्दोलन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो चलता है। जीवन चले, उसके लिए जैसा व्यावहारिक या क्रियात्मक पक्ष आवश्यक है, वैसे ही जीवन में अशुद्धि की मात्रा न बढ़े, इसके लिए उसमें पारमार्थिक या अक्रियात्मक पक्ष भी आवश्यक है। अणुव्रत-आन्दोलन उसका महान् प्रतीक है।

: १४ :

क्या अणुव्रत रचनात्मक है ?

इस आधे शतक से 'रचनात्मक' शब्द का आसन सबसे आगे बिछा हुआ है। उस प्रयत्न का आज कोई मूल्य नहीं आंका जाता, जो रचनात्मक न हो। अणुव्रत-आन्दोलन का मूल्य आंकनेवाले कहते हैं—यह बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य है। कुछ लोग अणुव्रत को इसलिए मूल्यवान् नहीं मानते कि यह 'रचनात्मक' कार्य नहीं है। इसके साथ कोई रचनात्मक प्रवृत्ति जुड़ी हुई नहीं है। आखिर कार्य का मूल्यवान् होना 'रचनात्मकता' पर निर्भर है। अणुव्रत-आन्दोलन रचनात्मक है या नहीं ? यह बड़ा जटिल प्रश्न है। किन्तु 'रचनात्मक' हुए बिना आज इसकी गति भी नहीं हो सकती। यह 'रचनात्मक' है तो अच्छी बात है। अगर वैसा नहीं है तो इसके सचालकों को इसे वैसा बनाने के लिए जी-जान से जुट जाना होगा।

इस सतत गति और क्रियाशील जगत् मे 'अरचनात्मक' भी कुछ है, यह नहीं माना जा सकता, किन्तु यह दार्शनिक बात

है। जमाना दर्शन से दो कदम आगे बढ़ चुका है। आज के लोग केवल देखना व जानना नहीं चाहते, वे बदलना चाहते हैं। परिवर्तित युग का सत्य भी नया होता है। आज का 'रचनात्मक' दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य श्रम करे, श्रम के द्वारा कमाई हुई वस्तु को भोगे। दूसरों के श्रम पर न जिए, आलसी बन बैठा न रहे, मूल्यांकन की दृष्टि को बदले, श्रमिक को छोटा न माने, अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए स्वयं कुछ-न-कुछ पैदा करे। इस दृष्टिकोण की तुलना में पिछला जमाना अवश्य अरचनात्मक रहा है।

कर्मभूमि के आदिकाल में मनुष्य श्रमिक था। आगे चल वह श्रम-विमुख हो चला। समाज संगठित हुआ। बुद्धिवाद बढ़ा, साधन बढ़े, मान और अपमान की धारणाएँ बनीं। अनुपयोगी वस्तुओं में मूल्य का आरोप हुआ और मनुष्य ने अपने सहज-भाव से मुँह मोड़ लिया। संक्षेप में कहा जा सकता है—समाजीकरण या संगठनात्मक स्थिति ने मनुष्य को स्वभाव-विमुख बना दिया। यह श्रम से अश्रम की ओर जाने का इतिहास है।

समाजीकरण के अभाव में बुद्धि का वाद नहीं होता। ज्ञान आत्मा का सहज धर्म है। बौद्धिक विकास का क्रम स्पर्धा पर आधारित है। स्पर्धा की भूमि समाज है। उसने बुद्धि को बढ़ाया, बुद्धि ने साधनों का विस्तार किया। भूख एक है, प्यास एक है; किन्तु उन्हें मिटाने के लिए आज अनगिनत

साधन है। साधन-सामग्री ने मनुष्य को छुटपन और बड़प्पन में बाँट दिया, जिसे साधन अधिक सुलभ हों, वह छोटा। बड़ा बननेवाला पूजा पाने लगा और छोटा उसे पूजने लगा। इस कृत्रिम भेद से अनावश्यक वस्तुओं में कृत्रिम मूल्य का आरोप हुआ। खान-पान के लिए अनुपयोगी वस्तुएँ मूल्यवान् बन गईं। मनुष्य का मोह शृङ्गार से जुड़ गया। मोह की आँख से मनुष्य ने देखा—काम करना छोटी बात है। वह श्रम से अश्रम की ओर झुक गया। 'रचनात्मक' युग समाप्त हो चला।

रचनात्मक और अरचनात्मक ये दोनों एक ही पहिये के दो सिरे हैं। एक ऊपर उठता है, दूसरा नीचे चला जाता है; दूसरा ऊपर आता है, पहला नीचे चला जाता है। ये दोनों मिल दुनियाँ की गाड़ी को आगे धकेल रहे हैं।

मनुष्य का सहज भाव है कि वह अपने जमाने को सर्वोत्कृष्ट देखना चाहता है। जमाना अपनी गति से चलता है। उसमें कारण-कार्य की नियत परम्पराएँ प्रतिफलित होती हैं। आज जो 'अरचनात्मकता' का जमाना है, वह समाजीकरण और उसकी छत्रछाया में पलनेवाली मिथ्या धारणाओं का परिणाम है। जब कभी रचनात्मक युग होगा, वह सामूहीकरण और उसके पल्ले पड़ी मिथ्या धारणाओं के विघटन का परिणाम होगा।

मनुष्य में परिणाम के प्रति जो अभिलाषा होती है, वह कारण के प्रति नहीं होती। वह स्वर्ग चाहता है, स्वर्ग की साधना

नहीं चाहता। आज बहुत लोग चाहते हैं मिथ्या धारणाएँ टूट जायँ, कृत्रिम भेद-रेखाएँ मिट जायँ, सब समान हो जायँ और आत्मनिर्भर बन जायँ। यह परिणाम की चाह तीव्र हो रही है। कारण की चाह बहुत ही क्षीण है!

समाजीकरण इतना हो रहा है कि व्यक्ति कोरा यन्त्र रह गया है! वैयक्तिकता की बात कोई सुनना ही नहीं चाहता। व्यक्ति का समाज से भिन्न जैसे अस्तित्व ही न हो, वैसे वह जकड़ा जा चुका है। क्या यह सही हुआ है? सामूहिकता सहज अनुभूति नहीं है। वह कुछेक के दिल में विचारों से पनपी है और बहुतों पर डंडे के बल से थोपी गई है। आज का समाजवाद व्यक्तिवाद के विकृत स्वरूप की प्रतिक्रिया है। वह मनुष्यों के भौतिक हितों के स्तर को समतल बनाने में सफल भी हुआ है; किन्तु वह अब भी परिणाम की धुरी के आसपास घूम रहा है, कारण की खोज बहुत दूर है। व्यक्तियों और वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। आवश्यकता पूर्ति की चिन्ता का भार कम भी हुआ है, किन्तु मानवीय दुर्बलता का प्रतिकार नहीं हो सका। मान व अपमान, छोटा और बड़ा होने की वृत्ति सामूहीकरण की तीव्र प्रतिक्रिया हो सकती है। उत्पादन बढ़ा है, श्रम का मूल्य बढ़ा है; किन्तु उसका आधार है—पदार्थ और समाज। यह सारा परिणामवाद है। इसमें रचनात्मकता के अभाव की प्रतिकार शक्ति नहीं है।

अणुव्रत आन्दोलन को 'अरचनात्मक' कहने में मुझे जरा

भी हितकर नहीं होती। परिस्थितियों के भार से मनुष्य को रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर ले जानेवाला वाद व नीति क्षणिक उपचार है। वह मानव-स्वभाव का परिवर्तन नहीं है। मानव का स्वभाव (कहना चाहिए विभाव लेकिन वही आज स्वभाव जैसा हो रहा है) असंयम में रम रहा है, पदार्थ पर टिका हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन का लक्ष्य नया मोड़ देना है। उसे अपने-आप में टिका संयम में रमाना है। समस्या का स्थायी समाधान संयम है। मोह इतना बढ़ गया कि संयम की खोज कठिन हो रही है। व्यक्ति अकेला आता है और वैसा का वैसा चला जाता है। वह जीवन भर सम्बन्धों की जोड़-तोड़ में रहता है। जानकारी का उपयोग कर्म में नहीं हो रहा है, यही मोह है। बुरे-भले को जान लेना ज्ञान-मात्र है; बड़ी बात है बुराइयों को छोड़ भलाई के रास्ते चलना। इसमें बाधा डालने वाला मोह है। मोह और असंयम एक ही स्वभाव की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। पदार्थ से मोह हटते ही संयम आ जाता है अथवा सयम जागते ही पदार्थ का मोह टूट जाता है। निर्मोहता ही संयम है। राजनीति के सारे वाद पदार्थ-मोह से जुड़े हुए हैं। मनुष्य-मनुष्य में मोह व्याप्त है। इसीलिए वे सहजतया उनके गले उतर जाते हैं। बात स्पष्ट है। जहाँ तक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रश्न है वहाँ तक उनसे हमारा झगड़ा भी क्या है ? रोटी की व्यवस्था जीवन का सामान्य प्रश्न है। उसे कौन कैसे हल करता है, इसे हम

महत्व ही क्यों दें ? हमें महत्व इसे देना चाहिए कि पदार्थ पर किसकी कैसी निष्ठा है ? पदार्थ की निष्ठा में कमी आ सके, उसी में संयम के आन्दोलन की सफलता है।

गरीबी का निराकरण व रोटी का प्रश्न समाजवाद, साम्यवाद व सर्वोदय से सुलझता है; इसके आधार पर हम घाटे-नफे को कूँतना नहीं चाहते हैं। हमारी कूँत का आधार यह है कि मानव-स्वभाव में कौन कितना परिवर्तन लाता है, संयम के मूल्यांकन में कौन कैसी प्रतिक्रिया पैदा करता है। सत्ता और शक्ति पर आधारित वाद संयम के विकास को गति नहीं देते। भले फिर वे एक बार लोगों को भुलावे में डाल दें। अणुव्रत-आन्दोलन पदार्थ की सुविधा के साथ-साथ संयम की ओर बढ़ने की दिशा नहीं है। संयम के स्वतन्त्र मूल्यांकन और विकास की दिशा है। दूसरों को पदार्थ की सुविधा मिले; इसलिये संयम करना उसका अवमूल्यन करना है। संयम का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। वह जीवन की पवित्रता के लिए किया जाय। पवित्रता के साथ वैयक्तिकता का विकास हो जाता है। उसके विकास में साधनों की अपेक्षा स्वल्प हो जाती है। आवश्यकता-पूर्ति के साधनों की दुनियाँ में छोटे-बड़ेपन का भाव विकसित नहीं होता। बड़प्पन आए बिना झूठे मूल्यों का आरोपण नहीं होगा यह 'रचनात्मक' युग के निर्माण की सही दिशा है।

रचनात्मक आन्दोलन बहुत चल रहे हैं। वे जीवन की

सुख-सुविधा के कार्यक्रम प्रस्तुत करते है। प्राथमिक कठिनाइयों के निवारण की दिशा देते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के पास ऐसा सीधा कोई कार्यक्रम नहीं है, फिर भी इस एक अरचनात्मक आन्दोलन को हमारे भाई सहन कर लें तो कोई बहुत बड़ा हर्ज होने वाला नहीं दीखता।

प्रश्न रह-रह कर यही उठता है क्या कोरे संयम का आन्दोलन सफल हो सकेगा ? इसके लिए आप निश्चित हो जाइए। भलाई की एक रेखा भी विफल नहीं होती। यह पदार्थ नहीं है, जिसकी सफलता व विकास संख्या से मापा जाए। अन्धकार में प्रकाश की एक रेखा भी पथ दिखा सकती है। अणुव्रती वही होगा, जिसे पदार्थ का तीव्र मोह नहीं है। तीव्र मोह से संग्रह और संग्रह के लिए हिंसा की जाती है। अणुव्रती का मार्ग अहिंसा-प्रधान होगा। अल्प हिंसा, अल्प उद्योग एवं अल्प परिग्रह के जीवन में रचनात्मक प्रवृत्तियाँ स्वयं जुड़ जाती है। दूसरों के श्रम पर वही जी सकता है, जो महाहिंसा, महारम्भ और महापरिग्रह का जीवन जीए। ऐसा व्यक्ति सफल अणुव्रती हो नहीं सकता। रचनात्मक-प्रवृत्तियों से संयम की ओर झुकाव हो भी सकता है और नहीं भी होता। संयम के पीछे स्वावलम्बन और आत्म-निर्भरता अपने-आप आती है। ज्यों-ज्यों संयम का विकास होता है, त्यों-त्यों आत्म-निर्भरता बढ़ती जाती[1] है। साधना-क्रम के अनुसार एक

१—वह श्रमण जो अपने साधर्मिक श्रमणों की भी सहायता न ले।

जिनकल्प की कक्षा है, उसके अधिकारी सारा काम अपने हाथों करते हैं। बाहरी वस्तुओं से उनका लगाव बहुत ही कम होता है। इसमें सन्देह नहीं कि संयम ही सारी समस्याओं का समाधान है; भले फिर वह प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से। यह स्वयं भले अरचनात्मक हो किन्तु रचनात्मकता इसी के आसपास फलती-फूलती है। इसीलिए हमें कोरी रचनात्मक प्रवृत्ति का मोह छोड़ कुछ अरचनात्मकता को भी गति देनी चाहिए।

: १५ :

प्रतिरोधात्मक शक्ति की साधना

व्रत इच्छा का स्वेच्छाकृत नियमन है। इसलिये वह एक विशिष्ट साधना है। यह सहज प्रवृत्ति पर अंकुश है। प्रतिरोधात्मक शक्ति की अपेक्षा समाज में विधेयात्मक शक्ति अधिक होती है। व्यक्ति जितना करता है, उतना नियन्त्रण नहीं रख पाता। प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास कम मात्रा में होता है, तभी प्रवृत्तियाँ बुरी बनती हैं। अक्सर सुनने को मिलता है—अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत नकारात्मक हैं—'निगेटिव' हैं। इनमें विधेयात्मक नहीं जैसा है—'पोजिटिव' पक्ष नहीं जैसा है। आलोचना सही है। इसमें व्रत-परम्परा के ह्रास का इतिहास बोल रहा है। नकारात्मक-शक्ति का महत्व प्रकाश में नहीं आ रहा है। इसीलिए यह आलोचना होती है और इसीलिये ये बुराइयाँ चलती हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विलास या चरित्र-दोष और संग्रह ये पाँच बुराई के प्रवाह हैं। शेष बुराइयाँ इन्हीं की छोटी-बड़ी शाखाएँ हैं।

कोई व्यक्ति क्रूर क्यों बनता है? अनुशासनहीन क्यों बनता है? असत्य क्यों बोलता है? चोरी क्यों करता है? विलासी क्यों बनता है? संग्रह क्यों करता है? इनके तथ्यों को खोजिये। ये सब परिस्थिति की विवशता से नहीं होते। वह एक स्थूल निमित्त है। मूल कारण व्यक्ति की प्रतिरोध या ... शक्ति का अभाव है। समाज की क्रियात्मक शक्ति ... विकसित है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ करता है।

आवश्यक भी करता है और अनावश्यक भी। उपयोगी भी करता है और अनुपयोगी भी। अच्छा भी करता है और बुरा भी। विलास भी है—आराम से जीवन बिताने की वृत्ति भी है। आलस्य भी है—कुछ भी किये बिना सब कुछ पा जाने की भावना भी है। जिस व्यक्ति या समाज में नियन्त्रण या निरोध शक्ति का उचित मात्रा में विकास होता है; वह आवश्यक, उपयोगी और अच्छा ही कार्य करता है। जिनमें निरोध-शक्ति का विकास औचित्य से अल्प होता है; वह आवश्यक, उपयोगी और अच्छा कार्य करने के साथ-साथ अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरा कार्य भी कर लेते हैं। जिनमें निरोध-शक्ति नहीं होती; वे अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरे कार्यों में ही रस लेते हैं। इस तीसरी श्रेणी के व्यक्ति विलासी, आलसी, पेटू और लुटेरे होते हैं।

रचनात्मक कार्यों के द्वारा समाज को उन्नत धरातल पर ले जानेवाले यह न भूलें कि प्रतिरोध शक्ति का विकास हुए बिना वैसा होना सम्भव नहीं है। निषेध जीवन का शुद्धि पक्ष है। विधि (कार्य) का अति-पक्ष[1] या अवांछनीय पक्ष इसी के[2] अभाव में बलवान् बनता है। निषेध की शाश्वत-सत्यता तक मनोविज्ञान अभी नहीं पहुँच पाया है। इसीलिये केवल रचनात्मक पक्ष को ही एकांगी महत्त्व दिया जा रहा है। रचना-

---

१—वह पक्ष जिसकी कोई सीमा न हो।

२—निषेध के अभाव में।

त्मक प्रवृत्तियों के लिये अभ्यास या साधना आवश्यक नहीं होती। ये जीवन की सहज अपेक्षाएँ हैं। उनकी शिक्षा भी तभी आवश्यक होती है, जबकि समाज स्व-नियन्त्रण की बात भूल जाता है। स्व-नियन्त्रण से मिलता कुछ भी नहीं, कुछ बनता भी नहीं, किन्तु यह सब अच्छाइयों की जड़ है, इसीलिये इसके अभ्यास की पुनरावृत्ति करनी ही होगी। जिन राष्ट्रों में नैतिकता की ऊँची भावना है उनमें आत्म-नियन्त्रण का भाव भी विकसित है। वे कठिन स्थिति को झेलने के लिये अपने पर काबू पा सकते हैं। कठिनाई व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सब पर आती है। निरोधक शक्ति वाले बिना घबराये उसे लांघ जाते हैं और जो निरोधक-शक्तिहीन होते हैं, वे उनमें डूब मरते हैं। अधिकांश मानसिक रोग और बहुत सारे शारीरिक रोग इसी निरोधक-शक्ति की कमी के कारण होते हैं। आत्म-हत्याओं का भी यही प्रधान कारण है, और भी अनेक बुराइयाँ इसी के अभाव में पनपती हैं। इसलिये अणुव्रत-आन्दोलन ने इस मूलभूत तथ्य को पकड़ा है। इसके लगभग सारे व्रत व्यक्ति को निरोधक-शक्ति की साधना की ओर ले जाते हैं। उनका हार्द—मत करो-मत करो इतना ही नहीं है किन्तु "मत-करो" इसके पीछे नियन्त्रण शक्ति की विराट् साधना जो छिपी हुई है, साध्य वह है। अमुक मत करो—यह उसी साधना के संकेत साधन है। जो व्यक्ति ने सद्विवेक और भलाई की

शक्ति के विकास की ओर ले जानेवाली दिशाएँ हैं। व्रती वनने वाले इन्हें ही साध्य मानकर न रुकें। आलोचना करनेवाले साध्य के वाहरी रूप में ही न उलझें। दोनों (व्रती और आलोचक) आगे वढ़ें। साध्य की विराट् सत्ता को देखें। वहाँ उन्हें वह सत्य दिखाई देगा, जो स्पष्ट होते हुए भी आँखों से परे है और जिसका अभ्यास समाज-धारणा, राष्ट्र-धारणा और मोक्ष-धारणा, सभी धारणाओं का मूल है। समाज में प्रतिरोध शक्ति कम हुई है। उसके अभाव में वुराइयाँ अधिक पनपी हुई हैं। इसलिये कुछ मत करो, जो करो उसमें अनावश्यक, अनुपयोगी और वुरा मत करो—यह निषेध पक्ष निष्क्रियता या अकर्मण्यता सा लग रहा है, पर यह अकर्मण्यता नहीं, कर्मण्यता का परिष्कार या शोधन है। एक पोषक और लुटेरा भी कर्मण्य हो सकता है और होता भी है किन्तु वह अनियंत्रित और अपरिष्कृत कर्मण्यता है कर्मण्यता का परिष्कार नियंत्रण से ही हो सकता है। समाज उसे भुलाये हुए है। इसीलिये वह कठोर कार्य लग रहा है। उसकी साधना भी लम्वा समय ले सकती है, भूलें भी वहुत हो सकती हैं। वुराई भी सहसा नहीं आती। उसका भी क्रमिक विकास होता है। जैसा कि आचार्यश्री ने कहा है—"पहले-पहल वुराई करते घृणा होती है। दूसरी वार संकोच होता है। तीसरी वार संकोच मिट जाता है। चौथी वार

गुजर जाती हैं। भलाई के लिए भी यही क्रम है। भले संस्कार दिनों; महीनों या वर्षों में ही एक-रस नहीं बन जाते। उसके परिणाम और मूर्त प्रवृत्तियाँ तो और अधिक लम्बा समय लेती हैं। पहले तो सिर्फ समाज के थोड़े आदमी ही आगे आते हैं फिर प्रयत्न होते-होते वह समाज-व्यापी बन जाता है, सहज भाव से आत्मसात् हो जाता है। इसलिये अल्परसता की बात आन्दोलन के सामने गौण है। प्रधान बात यह है कि यह शाश्वत सत्य और समाज की मूलभूत अपेक्षा की भित्ति पर खड़ा हुआ है। समाज के साथ एक-रस होने की सम्भावनाएँ इसमें रही हुई हैं।

निषेधात्मक कर्तव्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हैं। जर्मन दार्शनिक कान्ट ने मनुष्य के कर्तव्यों को निश्चित ऋण और अनिश्चित ऋण—इस प्रकार दो भागों में बाँटा है। जो अनिवार्य आवश्यक है, वह निश्चित ऋण-कर्तव्य है। अधिकतर ये कर्तव्य निषेधात्मक होते हैं, अर्थात् वे मनुष्य को किसी विशेष प्रकार के अनुचित कार्य से रोकते है। दूसरी ओर के कर्तव्य विधेयात्मक हैं। निषेधात्मक कर्तव्य सार्वकालीन और सार्वदेशीय होते है और विधेयात्मक इनके विपरीत होते हैं अर्थात् वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, अतएव उन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता। आन्दोलन के व्रत निश्चित कर्तव्य की भूमिका के हैं, इसीलिये उनका स्वरूप

तीसरा अध्याय

लक्ष्य की ओर

: १ :

जीवन का ध्येय

जीवन का सर्वोपरि ध्येय क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर एक नहीं होता। परमात्म पद, मोक्ष या चरम विकास की ओर जीवन की सहज गति है—ऐसा एक अभिमत है। दूसरा अभिमत इतना आगे नहीं जाता। वह इसी जीवन की समाप्ति को विकास का अन्तिम चरण मानता है। इस प्रकार सर्वोपरि ध्येय के बारे में एक मत नहीं दीखता। अणुव्रत-आन्दोलन सर्व साधारण है। पवित्रता की आखिरी मंजिल को कोई माने या न माने, वहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न करे या न करे किन्तु पवित्रता की पहली मंजिल सबके लिये समान है। उसके ध्येय में भले ही थोड़ा बहुत अन्तर हो परन्तु न्यूनतम पवित्रता की साधना में द्वैध नहीं हो सकता। अणुव्रत की साधना जीवन-पवित्रता की पहली मंजिल है। पर उसकी दृष्टि वहीं तक सीमित नहीं है, वह और आगे बढ़ती है। अन्याय, असत्य, हिंसा, उत्पीड़न और शोषण आदि अनुचित साधनों के द्वारा पदार्थ संग्रह न करने की बात पवित्रता का पहला चरण है।

अणुव्रत-दृष्टि का दूसरा चरण न्याय के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना है। अधिक संग्रह के रहते हुए पवित्रता बढ़ नहीं सकती, शान्ति का रूप ले नहीं सकती इसलिए उचित साधनों के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना इसका दूसरा अंग है। इस प्रकार इसका क्रम सीमित बनते-बनते जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की रेखाओं तक पहुँच जाता है। वहाँ वासना की तीव्र आकांक्षा धुल जाती है, आवश्यकता की मंद आकांक्षा शेष रहती है। यहाँ जीवन-ध्येय की साधना भी सफल बन जाती है। आत्मिक ध्येय की साधना, जो जीवनान्तर में भी संक्रान्त होती है, में आवश्यकता की मंद आकांक्षा भी नहीं होनी चाहिये। जीवन ध्येय आत्मिक ध्येय की गहराई तक नहीं पहुँचता। जीवन ध्येय की साधना शरीर, वाणी और मन की तीव्र आसक्ति मिटा, उन्हें पवित्र करने की है। आत्मिक ध्येय की साधना शरीर, वाणी और मन को मिटा देने की है। जीवन के पवित्रीकरण की साधना आत्मा के पवित्रीकरण की साधना का ही स्थूल अंश है इसलिये इसकी आराधना सूक्ष्म तक पहुँचने वालों के लिये पहले सोपान के रूप में और सूक्ष्म की चर्चा में न जानेवालों के लिए निर्विकल्प रूप में हो—यह आवश्यक है।

: २ :

सुख-दुःख की अनुभूति और व्यक्ति

सुख-दुःख की अनुभूति व्यक्ति की अपनी होती है। उनके साधन सामूहिक हो सकते हैं पर वे व्यक्ति के 'स्व' नहीं; उसे प्रभावित करते हैं किन्तु उससे भिन्न होते हैं।

सुख-दुःख नितान्त अपनी मान्यता ही है, ऐसा तो नहीं है। सुख आत्मा का सहज गुण है, दुःख भ्रम, अज्ञान, व्यामोह से पैदा होता है। तात्पर्य-दुःख अपना 'स्व' नहीं किन्तु वह प्रमादकृत है। भगवान् महावीर के शब्दों में—'प्राणी दुःख से घबराते है और दुःख स्वकृत है।' जो सहज सुख नहीं, सुख की कल्पना या वैकारिक सुखानुभूति है, वह भी आत्म-कृत होता है। सहज सुख के सिवाय सुख और दुःख जो हैं, वे साधन-सापेक्ष हैं। रोटी के बिना दुःख होता है और उसके मिलने पर सुख।

कहना यूँ चाहिये कि सुख-दुःख की वेदना का मूल भाव-अभाव और संयोग-वियोग है। इष्ट का भाव और अनिष्ट का अभाव सुख का निमित्त बनता है। अनिष्ट का भाव और और इष्ट का अभाव दुःख का।

: ३ :

संघर्ष के बीज अपनी सुख-साधना की उर्वरा में बोए जाते हैं

तत्त्वतः सुख-दुःख की अनुभूति आत्मा का भाव है, यों मान लेने पर भी उनके सर्जन का श्रेय साधन पर निर्भर होता है। जितना वाद-विवाद है, वह सब साधन-सामग्री का है। अप्रिय साधन अपेक्षित नहीं पर वे आते हैं। प्रिय साधन अपेक्षित हैं पर वे सुलभ नहीं होते। कारण उनके संग्रह की स्पर्धा चलती है और वही अशान्ति या कलह का बीज मूल है।

सहज-सुख उन्हीं का साध्य होता है, जो आत्म-विकास की उच्चतम भूमिका पर पहुँच चुके। वे अपरिग्रही बन जाते हैं। बाहरी साधनों का ग्रहण उनका ध्येय नहीं होता और वे उनके द्वारा सुख प्राप्ति की कल्पना को भी स्वाभाविक नहीं मानते।

प्रतिशत ६६ व्यक्ति बाहरी साधनों से सधनेवाले सुख के लिए क्रियाशील हैं। वे सुखी बन जायँ, इसलिए उनका संग्रह

करते हैं। वे प्रत्यक्ष रूप में दूसरों को दुःखी बनाने नहीं चलते। उनमें अपने सुख की वृत्ति होती है पर इस प्रक्रिया में वे दूसरों को दुःखी किये बिना रह नहीं सकते। शोषण और वंचना के बिना संग्रह नहीं होता। संग्रह के बिना उन्हें मानसिक सुखानुभूति नहीं होती। स्वल्प संग्रह दैहिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो सकता है। यह सुखानुभूति नहीं है। आवश्यकता एक व्याधि है और पूर्ति है उसकी चिकित्सा, रोग मिटाने के लिए औषधि ली, उसमें सुख की कल्पना कौन करे?

आवश्यकता नहीं, केवल तृप्ति मिले वहाँ सुख की कल्पना जुड़ती है। उसके लिए अतिरिक्त संग्रह चाहिये। वह हो तब; अपेक्षा पूर्ति का नहीं, विलासी जीवन बिताया जा सकता है। विलासी व्यक्ति अपने लिए ही देखता है, दूसरों के लिए उसकी आँखें खुली नहीं रहतीं। यहीं आकर क्रूरता, निर्ममता और शोषण के बीज विकास पाते हैं।

: ४ :

सत्ता की आधार शिला

जीवन की दो धाराएँ है—आवश्यकता और पवित्रता। आवश्यकता बाहरी स्थिति पर निर्भर है और पवित्रता आन्तरिक स्थिति पर। यह सच है, श्रम और भोग के सामान्य सन्तुलन के बिना सम स्थिति नहीं बन सकती। जब आन्तरिक स्थिति सम नहीं होती, तभी बाह्य स्थिति विषम बन जाती है। एक बुद्धिमान् व्यक्ति दूसरों का शोषण कर सकता है पर करता नहीं—यह उसकी आन्तरिक स्थिति की समता है। पर कर्म या भाग्य के नियम निश्चित ही नहीं होते कि भाग्यशाली को अधिक संग्रह और विलास करना ही पड़े। जब स्वयं का असंयम और परिस्थिति की अनुकूलता मिल जाती है, तब वह वैसा कर बैठता है। संयम का मार्ग है—प्रत्येक व्यक्ति बुद्धि और भाग्य का तारतम्य होने पर भी संग्रह और विलास से बचकर चले। संयम के साधन अकिंचन[1] हैं, इसलिए बाहरी स्थिति को वे प्रत्यक्षतया सम नहीं बनाते; किन्तु अशोषण, असंग्रह और अनासक्ति संयम का सहज स्वरूप है, इसलिए उसके होते स्थिति विषम बन नहीं सकती।

आन्तरिक स्थिति सम हो जाने पर बाहरी वैषम्य नहीं बढ़ता।

१—परिग्रह रहित।

कठिनाई है, वह सम कैसे बने ? अन्तर में यदि विराग जाग जाय तो वह वीर बन जाता है। वीर की भाषा है—"मार सके मारे नहीं ताको नाम मरद"। शोषण न कर सके वैसी स्थिति में शोषण न करे, यह एक प्रकार की परवशता है, राज-सत्ता का नियन्त्रण है। इसे मानव-स्वभाव का परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। शोषण कर सके, फिर भी इसलिए न करे कि वह उसकी आत्मा को गिरानेवाला है, यह स्व-वशता है, अपने पर अपना नियन्त्रण है, संयम है। यह मानव स्वभाव का परिवर्तन है। कठिनाई एक है—सबका हृदय समान रूप से पलट जाय, यह तो असंभव जैसी बात है। हर एक व्यक्ति में क्रोध, लोभ, मोह आदि का तारतम्य लगा हुआ है, जिनमें ये कम होते हैं और जिन्हें संस्कारी वातावरण का सुयोग मिला हुआ है, उनके दिल बदल जाते हैं, वे फिर बुराई कर सकने पर भी बुराई नहीं करते—एकान्त में भी नहीं करते, सत्ता-नियन्त्रण से मुक्त होकर भी नहीं करते। वे बुरों से निर्भय होकर भी बुराइयों से भय खाते हैं।

दूसरी कोटि के वे लोग हैं, जो बुराइयों से नहीं डरते, बुरों से डरते हैं, उनमें क्रोध, मोह आदि प्रबल होते हैं; इसलिए वे सच्चाई में आस्था नहीं रखते। उन्हें दूसरों का उत्पीड़न, शोषण और संग्रह करने में कोई संकोच नहीं होता। राजसत्ता ऐसे व्यक्तियों के लिए ही अस्तित्व में आई और इन्हीं के आधार पर टिकी हुई है।

: ५ :

जीवन-परिवर्तन की दिशा

सामाजिक जीवन सुविधा देता है, दर्शन नहीं। उसमें वर्तमान को बनाये रखने का प्रयत्न होता है, भूत और भविष्य का विश्लेषण नहीं। सामाजिक जीवन का विकास अर्थ-व्यवस्था को जन्म देता है और वह राजसत्ता को। तात्पर्य यह है कि अर्थ और सत्ता दोनों सामाजिक हैं। एक की प्रवृत्ति का फल अनेक को मिले और जो हस्तान्तरित हो सके वह वस्तु सामाजिक होती है। अर्थ और सत्ता दोनों ही ऐसी वस्तुएँ हैं। धर्म वैयक्तिक है। उसका फल दूसरों को नहीं मिलता और न वह हस्तान्तरित ही हो सकता है। एक हिंसा नहीं करता, चोरी नहीं करता यह धर्म है। इसका लाभ दूसरों को भी मिलता है। एक व्यक्ति की अहिंसकता और अनपहरणता, जो अहिंसा और अचौर्य के परिणाम है, का लाभ सबको मिलेगा, तब धर्म सामाजिक क्यों नहीं, यह प्रश्न उठ सकता है किन्तु वह वस्तु-स्थिति को जटिल नहीं बनाता।

एक व्यक्ति की धर्म साधना का लाभ दूसरों को नहीं

मिलता, इसका अभिप्राय वस्तु प्रतिदान और विनिमय से है। धर्म में प्रतिदान और विनिमय की वह शक्ति नहीं है जो पैसे में है। इसलिए वह स्वलाभ को प्रसरणशील नहीं बनाता। धर्म का प्रतिदान पौद्‌गलिक वस्तुएँ नहीं हैं और न दूसरों में वह विनिमित होता है। धर्म तब तक नहीं होता, जब तक व्यक्ति स्वयं उसकी साधना न करे। इसलिए वह वैयक्तिक है। अर्थ सामाजिक होते हुए भी कुछ अंशों तक वैयक्तिक होता है। वैसे ही धर्म वैयक्तिक होने पर भी कुछ अंशों तक सामाजिक है। व्यक्ति की संयत प्रवृत्ति से समाज की आध्यात्मिक स्थिति को प्रेरणा मिलती है और उसकी निवृत्ति से समाज का अनिष्ट नहीं बढ़ता; इस प्रकार वह समाज के लिए लाभकारक है, इसलिये वह सामाजिक है।

सामाजिक कल्याण के लिये अर्थ और सत्ता ये दोनों आवश्यक माने जाते हैं, धर्म क्षेत्र में ये दोनों नहीं हैं इसलिए वह असामाजिक भी है।

धर्म स्वरूपतः सामाजिक नहीं है किन्तु वह समाज की स्थिति को प्रभावित करता है, इसलिए अर्थ और सत्ता पर उसका नियन्त्रण होता है।

एक सिद्धान्त अर्थ-प्राचुर्य का है। उसके विरुद्ध दूसरी विचारधारा अपरिग्रह की है। अपरिग्रह असामाजिक है। समाज परिग्रह के बिना नहीं चलता।

परिग्रह का एकाधिपत्य भी असामाजिक है। अधिक संग्रह

के लिये लोग बुरे बनते हैं और अधिक संग्रह से समाज में विलास आता है, वैषम्य फैलता है, क्रूरता बढ़ती है।

सामाजिक प्राणियों के लिए एक तीसरे मार्ग की शोध हुई, वह न परिग्रह का है न अपरिग्रह का। वह है इच्छा-परिमाण या परिग्रह का सीमाकरण। इसी मध्यम मार्ग का नाम है "अणुव्रत"।

विलास जीवन में शिथिलता लाता है। इसके लिए अधिक संग्रह आवश्यक होता है। विलासी स्वयं श्रम नहीं करता, इस लिए उसे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए दूसरों से श्रम लेना पड़ता है। श्रम का प्रतिदान पैसा है, जो अधिक पैसा खर्च करता है, वह दूसरों से अधिक श्रम लेता है। इस तरह दो वर्ग स्वयं बन जाते हैं। एक श्रम लेनेवाला और दूसरा श्रम देनेवाला। पैसे के बल पर श्रम लेते-लेते व्यक्ति झूठा बन जाता है।

श्रम देनेवाला अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए पैसा कमाता है या उसमें इतनी योग्यता नहीं कि वह शारीरिक श्रम किये बिना पैसा कमा सके। इसलिए वह शारीरिक श्रम देकर पैसा कमाता है और इसीलिए श्रमजीवी बन जाता है। शिक्षा की कमी की स्थिति में बुद्धिजीवी और श्रमजीवी, ऐसे दो वर्ग सहज ही बन जाते हैं। शिक्षित दशा में यह स्थिति संघर्ष लाती है। सब-के-सब बुद्धिजीवी बन जायें तो क्या खायें, क्या पीयें और कहाँ रहें? सब-के-सब श्रमजीवी बन जायें तो मनुष्य के

बौद्धिक विकास का द्वार खुला कैसे रहे ? इस समस्या पर विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि सबमें बुद्धि-कौशल समान नहीं होता और जिनमें बुद्धि कौशल तुल्य भी होता है, उन्हें भी अवसर समान कहाँ मिलते हैं ? समान अवसर पानेवाले भी समान लाभ नहीं उठा सकते। इस स्थिति में दो वर्ग कभी टूट जायँ, यह कदापि संभव नहीं। सम्भव है, दोनों का समन्वय। बुद्धिजीवी श्रम को नीचा न माने और श्रमजीवी बुद्धि को ऊँचा न समझे, फलित भाषा में बुद्धि-जीवी अपना आवश्यक श्रम दूसरों से न ले, काम करने में लज्जा का अनुभव न करे, उस स्थिति में वे अपरिग्रह की ओर आगे बढ़ सकते हैं। परिग्रह का क्रम है—विलास से बड़प्पन, बड़प्पन से स्वयं हाथों से काम करने में लज्जा, दूसरों से श्रम, श्रम प्रतिदान के लिए फिर पैसे का अधिक संग्रह. अधिक संग्रह के लिए अधिक बुराई यानी अधिक हिंसा और अधिक झूठ। हिंसा अपने आप अधिक नहीं बढ़ती। असत्य की भी यही बात है। रोग का मूल भोगवृत्ति है। उसके लिए परिग्रह और परिग्रह के लिए हिंसा और असत्य का विस्तार होता है। जीवन-परिवर्तन की दिशा भोग-विरति है।

: ६ :

विषम स्थिति कैसे मिटे ?

जीवन की आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती, फिर भी यह सच है कि वे साध्य नहीं हैं। वे केवल जीवन धारण की साधनमात्र हैं। जीवन का साध्य है–उसकी पवित्रता, जो जीवन चलाने के लिए नहीं, किन्तु उसे ऊर्ध्वमुखी और विराट् बनाने के लिए है।

आवश्यकता की पूर्ति पवित्रता का साधन नहीं है, वह *भूमिका बन सकती है। आवश्यकता पूरी न हो, यह विषम* परिस्थिति है। इससे मनुष्य क्रूर बनता है। आवश्यकता-पूर्ति के साधन अति अधिक हों, यह भी विषम परिस्थिति है। इससे भी मनुष्य विलासी बनता है। सम परिस्थिति वह हो *सकती है, जिसमें श्रम करनेवाला आवश्यकता पूरी किये बिना* न रहे और श्रम न करनेवाला अधिक न पाये। क्रूरता और विलास, ये दोनों ही चरित्र विकास के बाधक हैं। सम परि-स्थिति उन्हें बढ़ने के लिये उत्तेजित नहीं करती। इसलिए वह चरित्र-विकास की श्रेष्ठ भूमिका बन सकती है, साधन नहीं। सम परिस्थिति में भी क्रूरता और विलास का अन्त नहीं होता,

किन्तु विषम स्थिति से इन्हें जो सामूहिक उत्तेजना मिलती है, वह सम स्थिति से नहीं मिलती। इसलिए उसे चरित्र-विकास की योग्य भूमिका कहा जा सकता है। पहला प्रश्न है—सम स्थिति बने कैसे ? मनुष्य में मोह होता है, दुर्बलताएँ होती हैं, इसलिए वह सबसे अधिक बड़ा बनना चाहता है। सुविधाएँ तो सर्वाधिक सुलभ हों और श्रम भी करना न पड़े, उस स्थिति का नाम है—बड़प्पन। इस बड़प्पन का अपना दोष है—विलास, जो दूसरों में क्रूरता पैदा करता है।

मनुष्यमात्र में बुद्धि का तारतम्य होता है और भाग्य का भी, युग की भाषा में अवसर का भी। बुद्धि और भाग्य दोनों के सुमेल से श्रम किए बिना अधिक सुविधाएँ पाने का प्रयत्न किया जाता है और वह सफल भी होता है। किन्तु इसका सुफल नहीं होता।

अधिक बुद्धि और भाग्य या अवसर मिले यह व्यक्ति का उत्कर्ष है पर उसे उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। दूसरों की अल्पज्ञता और दुर्भाग्यता से अनुचित लाभ उठाने की बात नहीं सोचनी चाहिए।

संयम का मार्ग सात्विक है किन्तु वह मानव समाज में एकरूपता ला सके, यह शक्ति उसमें नहीं। क्योंकि वह हृदय शुद्धि-सापेक्ष है। सत्ता तामसिक होती है; उसका आदेश मानना पड़ता है, कोई चाहे या न चाहे। इसलिए वह सबको

वैषम्य का अन्त चाहनेवाले जन क्रान्ति या रक्त-क्रान्ति में विश्वास करते हैं।

सम स्थिति के लिए समाजवाद का सूत्र है—ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय जिसमें कोई किसी का शोषण न कर सके। इसके अनुसार बुराई और भलाई का मूल स्रोत परिस्थिति ही है। व्यक्ति नहीं। वह परिस्थिति का दास बनकर उसी के जैसा रूप किये चले चलता है। वर्ग भेद की स्थिति में शोषण हुए बिना नहीं रहता। सम्पत्तिशाली वर्ग अकिंचन (गरीब) वर्ग पर मनमानी करता है और उसे विवश होकर सारी स्थितियाँ सहनी पड़ती हैं। सहने की स्थिति चरम-बिन्दु पर पहुँचती है तब संघर्ष छिड़ता है और वह वर्गहीन समाज न बने तब तक चलता ही रहता है। इसलिए सम स्थिति का निर्विकल्प समाधान है—वर्गहीन समाज की रचना।

अणुव्रत आन्दोलन का प्रवाह आध्यात्मिक है। वह व्यक्ति को परिस्थिति का स्रष्टा मानता है और विजेता भी। इसके अनुसार अच्छाई और बुराई का कारण परिस्थिति ही है—यह एकान्तवाद मिथ्या है। व्यक्ति स्वभाव से भला ही है, यह एकान्तवाद भी मिथ्या है और वह स्वभाव से बुरा ही है यह एकान्तवाद भी मिथ्या ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शुद्धि की मात्रा तक भला होता है और विकृति की मात्रा तक बुरा। परिस्थिति उसकी भलाई (स्वगुण) और बुराई (विगुण) का निमित्त बनती है।

: ७ :

नया मोड़ लेना होगा !

पूँजीपति और गरीबों के हित परस्पर विरोधी हैं। उनके समन्वय के दो मार्ग हैं—एक पशुबल का, दूसरा आत्म-बल का। यह सब जानते हैं—अधिकार-जागरण के युग में विपुल वैपम्य टिकनेवाला नहीं है। वह मिटेगा यह निश्चित जैसा है। पर कैसे मिटेगा ? यह प्रश्न कई राष्ट्रों के लिये अति-महत्त्व का है। भारत के लिये और भी विशेष है। वह कानून के द्वारा मिटता है या संयम के द्वारा, यह देखना है। धन से मोह छूटता नहीं, कानून अतिरिक्त धन छोड़ने के लिये बाध्य करता है, तब कष्ट होता है। संयम धन का ममत्व छूटने से आता है, वैसी स्थिति में धन-संग्रह न रहने पर भी कष्ट नहीं होता। जनता कष्ट को मोल लेना चाहेगी या शान्ति को ? इसका निर्णय अभी हुआ नहीं है। पूँजीवाद के अनिष्ट परिणामों—बेकारी, दरिद्रता, भुखमरी आदि को समझकर लोग समाजवाद की ओर झुक गये। वैसे ही पूँजी के अनिष्ट परिणामों —मोह, लालच, अनीति, आदि-आदि को लोगों ने नहीं समझा। अब उसी को समझने और समझाने का प्रयत्न करना होगा।

: ८ :

आकर्षण कैसे छूटे ?

पूँजी वस्तु विनिमय का साधन है। उसमें फलदान की शक्ति है। पैसा लेकर जाता है, वह बाजार से मनचाही वस्तु ले आता है। अपरिग्रह स्वीकार कर बाजार में जाये तो उसे साग के लिये एक ककड़ी भी नहीं मिलती। दिनचर्या के अधिक अंग पूँजी से पूरे बनते हैं। ऋतुचर्या के अंग भी वैसे ही हैं। रोटी, कपड़ा, मकान, दवा व छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। उसकी पूर्ति पैसे से होती है इसलिए वह सहजतया बिना कहे सुने और प्रचार किये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। अपरिग्रह के लिए प्रचार चलता है, अपरिग्रही बनने की सीख दी जाती है फिर भी उसके लिये पर्याप्त मात्रा में आकर्षण पैदा नहीं होता। सही अर्थ में थोड़े आदमी विश्वास करते हैं—अपरिग्रह व्रत अच्छा है। बहुतों का विश्वास परिग्रह में है। अपरिग्रह व्रत है, इसलिए यह साधना सापेक्ष है। इस हाथ से दिया उस हाथ से लिया—ऐसी तात्कालिक फलदान-शक्ति उसमें नहीं है और उसका फलदान भी पदार्थपरक नहीं है। उसका फल है—वृत्तियों का सुधार, आन्तरिक आनन्द। बहुत लोग इस गहरे दर्शन तक जाने को डग भरना भी नहीं जानते, इसलिए वहाँ जाना भी नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में पैसे का आकर्षण एकछत्र हो जाता है।

: ६ :

मूल्यांकन की दृष्टि

मनुष्य का मूल्य पैसे से आंका जाता है। पैसेवाला निर्गुण भी सब कुछ और निर्धन सगुण भी कुछ नहीं—प्रायः ऐसी स्थिति है। विद्वान् और कलाकार, शिल्पी और कुशलकर्मी इन सबको पैसेवाले का द्वार खटखटाना होता है। तात्पर्य की भाषा में—विद्या, कला, शिल्प ये सब पैसे के सामने झुकते हैं इसलिये वह सर्वोपरि सम्मान पा रहा है। इस स्थिति में वह सबकी दृष्टि सहसा अपनी ओर खींच लेता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

: १० :

भूल सुधार

पैसे के प्रति आकर्षण होने की दो मुख्य बातें बताई गई है, उनके बारे में हमें शुद्ध दृष्टि से विचार करना है। जहाँ जीवन है, वहाँ उसके निर्वाह की आवश्यकताएँ भी है, इसमें कोई संदेह नहीं। यह भी सच है—आवश्यकता पूर्ति के लिये पदार्थ और पदार्थ प्राप्ति के लिये पैसा या उस जैसा दूसरा कोई भी साधन आवश्यक है। किन्तु यहाँ एक तथ्य समझना और शेष रह जाता है। वह यह है कि मनुष्य जितना कार्य आवश्यकता वश नहीं करता, उतना वृत्ति वश करता है। प्रत्येक वृत्ति में वासना-पूर्ति की भावना होती है। वे व्यक्ति में कृत्रिम आवश्यकता पैदा करती है। उनसे शुद्ध आवश्यकताओं पर परदा गिर जाता है। मनुष्य नहीं समझ पाता—क्या आवश्यक है और क्या काल्पनिक ? शुद्ध आवश्यकता वश व्यक्ति बहुत थोड़ा कार्य करता है। अधिकांश कार्यों के पीछे वृत्ति की ही प्रेरणा होती है। अनगिनत मिठाइयाँ खाई जाती है, उनका हेतु भूख-शान्ति है या स्वाद-वृत्ति ? एक आदमी अपने रहने के लिये दो

चार मकान या महल बना लेता है। यह क्या है ? आवश्यकता है या ऐशो-आराम की वृत्ति ? क्या सभी कपड़े आवश्यकता के लिये पहने जाते हैं ? करोड़ों की पूँजी क्या आवश्यक होती है ? इसी प्रकार एक ओर आमोद-प्रमोद, बोल-चाल जैसे जीवन के साधारण कार्य और दूसरी ओर धन-संग्रह जैसे विशेष कार्य, ये सभी बहुलतया वृत्ति-प्रेरित होते हैं। झूठी भूख या कृत्रिम भूख से आदमी खाता है, उससे वासना पूरी होती है, शरीर नहीं बनता। यही बात कृत्रिम आवश्यकताओं की है। उससे प्रेरित हो मनुष्य संग्रह करता है, आनन्द नहीं मिलता। पैसे के प्रति जो अधिक या सर्वोपरि आकर्षण है, उसका हेतु कृत्रिम आवश्यकता है। यह भटकाने वाली भूल है। चारित्रिक विकास के लिए इसका परिमार्जन करना होगा। शुद्ध आवश्यकता और कृत्रिम आवश्यकता का विवेक जागृत करना होगा। अणुव्रत-दर्शन बतलाता है कि प्रत्येक अणुव्रती कृत्रिम आवश्यकता पैदा करनेवाली वृत्तियों का निग्रह करे।

: ११ :

मूल्य परिवर्तन की दृष्टि

दूसरी बात है—मूल्य परिवर्तन की। इसके बिना व्रत विकास में कठिनाइयाँ आती हैं। जहाँ बाहरी पदार्थों के आधार पर व्यक्ति का मूल्य आँका जाता है, वहाँ व्यक्ति पदार्थों के नीचे दब जाता है। व्यक्ति का महत्व धन और पदार्थ के साथ जुड़ा होता है, तब चरित्र विकास की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। मूल्यांकन की दृष्टि चरित्र हो तब ही वह व्यापक रूप में सहज स्फुरित हो सकता है। स्वार्थ सम्पादन का ध्येय गौण होने पर ही परमार्थ दृष्टिवाले व्यक्ति पैदा हो सकते हैं। ईमानदारी के प्रति श्रद्धा बढ़ने पर ही ईमानदार पैदा हो सकते हैं। श्रम का मूल्य बढ़ा है। उससे श्रम निष्ठा पैदा हुई है। फिर भी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच योग्यता का अतिमात्र तारतम्य है। वह श्रम निष्ठा को व्यापक नहीं बनने देता। अत्यन्त न्यून मात्रा की योग्यतावाला व्यक्ति दूसरे के श्रम को अपने ऊपर ओढ़ लेता है। ऐसा करने में उसकी स्वार्थहीन बुद्धि नहीं है किन्तु वह अपना पेट पालने के लिए ऐसा करता है। जिसे

बौद्धिक योग्यता मिली है और जो विलासी है, वह प्रायः बुद्धिहीन व्यक्तियों के श्रम का अनुचित लाभ उठायेगा। यह बुद्धिकौशल व्यामोह है। वही उसे श्रमनिष्ठ नहीं बनने देता। बौद्धिक योग्यता बढ़ने पर ही श्रम का विक्रय कम हो सकता है। चरित्रनिष्ठ बनने में भी ऐसी बाधाएँ आती हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो आकांक्षा का तारतम्य है, वह चरित्रनिष्ठा को व्यापक नहीं बनने देता। अति आकांक्षावाले धन को अधिक महत्व देते हैं इसलिए धनी को अपने आप अति महत्त्व मिल जाता है। धनी को जैसे-जैसे अधिक महत्त्व मिलता है, वैसे-वैसे वह और अधिक धनी बनने को ललचाता है। आध्यात्मिक योग्यता बढ़ने पर ही आकांक्षा कम हो सकती है। उसे जगाने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही जीवन के मूल्य बदल सकते हैं।

: १२ :

व्यवस्था सुधार से पहले वृत्ति का सुधार हो

इच्छा और आवश्यकता की वृद्धि से विकास होता है—यह धारणा मिथ्या ही नहीं घातक भी है। वैषम्य का जो विकास हुआ है, वह उसको निरंकुश छोड़ने का ही परिणाम है। सीमित इच्छाएँ और सीमित आवश्यकताएं मनुष्य को मूढ़ नहीं बनातीं। असीमित इच्छाओं और असीमित आवश्यकताओं ने युग को वस्तु बहुल बनाकर मनुष्य को रक्त का प्यासा बना डाला है और अब वह सारी सामग्री को अकेला ही निगल जाना चाहता है।

निरंकुश इच्छाएं ही शोषण करती हैं और युद्ध भी, जो अभी अभी लड़ गये थे, इन्हीं की देन है। प्रतिहिंसा से पीड़ित मनुष्य शान्ति चाहता है पर अशान्ति का मूल जो इच्छा का अनियन्त्रण है उसे मिटाना नहीं चाहता—यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।

शान्ति का निर्विकल्प मार्ग है—भोग का अल्पीकरण। भोग के अल्पीकरण से परिग्रह का अल्पीकरण होगा और उससे हिंसा और असत्य का।

आज की दुनियाँ में यह मान्य हो चुका है कि अहिंसा को विकसित किये विना विश्व-शान्ति कभी नहीं हो सकती। इसीलिए वहुत सारे व्यक्ति अहिंसक वनना भी चाहते हैं पर वे जीवन-क्रम को वदलते नहीं। इसीलिए वे अहिंसक वन नहीं पाते। हिंसा की कमी परिग्रह की कमी पर निर्भर है, परिग्रह की कमी भोग की कमी पर। लोग चाहते हैं—भोग-विलास जो हैं, वे तो चलते ही रहें; परिग्रह भी कम न हो और हिंसा भी छूट जाय। कैसा है यह व्यामोह! भोग-विरति के विना जो हिंसा-विरति चाहते हैं, वे बुराई की जड़ को सींचते हुए भी परिणामों से वचना चाहते हैं। जो हिंसा-विरति या अहिंसा का विकास चाहते हैं; उन्हें समझ लेना है कि हिंसा के कारणों को त्यागे विना हिंसा को त्यागने का परिणाम केवल दंभ होगा, अहिंसा नहीं। आचार्यश्री तुलसी ने अपनी उदात्त वाणी में कहा—"जीवन को हलका वनाओ" क्योंकि अर्थ के गुरुतम भार से दवा जीवन पवित्र नहीं वन सकता।

जीवन-शुद्धि के लिए अहिंसा के द्वारा जिसका जीवन वदलता है, वह न दूसरों से अनावश्यक श्रम लेता है और न किसी का शोषण करता है। निश्चय में अहिंसा आती है, तब व्यवहार में स्वनिर्भरता अपने आप आ जाती है। अथवा यों कहना चाहिए कि व्यवहार में स्व-निर्भर रहनेवाला ही अहिंसा का विकास कर सकता है। कोई श्रम करे या न करे,

इससे अहिंसा का सम्बन्ध नहीं, किन्तु दूसरे से श्रम लेने के लिए परिग्रह व परिग्रह के लिए हिंसा, इस तरह हिंसा को बढावा मिलता है। स्वयं श्रम करनेवाले को अधिक परिग्रह की अपेक्षा नहीं होती। अधिक परिग्रह से निरपेक्ष व्यक्ति अधिक हिंसा मे नहीं फंसता। इस प्रकार स्व-श्रम निर्भरता से हिंसा को अधिक उत्तेजना नहीं मिलती। निष्कर्ष यह निकला कि अपना आवश्यक कार्य अपने आप करने से समाज में अभोग, अपरिग्रह और अहिंसा का जैसा जीवित विकास हो सकता है, वैसा विकास दूसरों के श्रम पर निर्भर रहनेवाले समाज मे नहीं हो सकता।

एक नई विचारधारा आई है, जिसका विधान है—अधिक उत्पादन करो। आवश्यकताएँ अधिक होती है और उत्पादन कम, इस कारण समस्याएँ बढती है। आवश्यकताएँ बढें, वैसे ही उत्पादन भी बढे तो समस्या पैदा न हो। यह हिंसा को बुलावा है। वस्तुएँ थोडी हों, यह कोई अच्छाई नहीं, वे अधिक हों, यह बुराई नहीं, उन्हें कम करने की जो भावना है, वह अच्छाई है और उन्हें बढाने की जो भावना है—वह बुराई है।

वस्तुओं को बढाने की इच्छा पैदा होती है। इच्छा ही तो अन्त में संस्कार बन जाती है। संस्कार की पूर्ति के लिए फिर स्पर्धा चलती है। उसमे औचित्य-अनौचित्य का शुद्ध विचार ही नहीं रहता और इस तरह बुराइयों का द्वार खुल जाता है। जब वस्तुओं को कम करने की वृत्ति बनती है, तब व्यक्ति को

बुरे साधन अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती। यहीं से अच्छाई का अंकुर प्रस्फुटित होता है।

इसे कौन नहीं जानता कि अधिक उत्पादन की स्पर्धा ने हिंसा को प्रत्यक्ष निमन्त्रण दिया है। व्यापारिक स्पर्धा, राज्य-विस्तार या अधिकार प्रसार की स्पर्धा ने आज के युग को अणुबमों की स्पर्धा का युग बना दिया है। स्पर्धा का अन्त सीमा में होता है, विस्तार में नहीं। अतृप्ति का अन्त त्याग में होता है, आसेवन में नहीं। यदि उत्पादन वृद्धि के द्वारा समस्याओं को सुलझाने की दिशा खुली रही तो अनुमान नहीं किया जा सकता कि मानव का अन्त होने से पहले स्पर्धा का कभी अन्त भी हो सकेगा।

आन्दोलन के व्रत संयममय हैं। संयम निषेध-प्रधान होता है। करने से पहले जो नहीं करना चाहिए, यह रुकना आवश्यक है। टॉलसटाय ने अनुभव किया कि "एक वर्ग दूसरे वर्ग को गुलाम बनाये रखता है, वह दूसरों के दुःख और पाप का कारण है। इस पर से उन्होंने एक सीधा सादा सा अनुमान निकाला—"मुझे दूसरों की सहायता करनी हो तो मैं जो दुःख मिटाना चाहता हूँ उससे मुझे पहले वे दुःख देने बन्द कर देने चाहिए। (त्यारे करी शूं शूं ? पृष्ठ १६५)" उन्होंने बताया—धनिकों के पास से लेकर गरीबों को देने की जो मेरी योजना थी, उसकी निरर्थकता मैं जान गया। मैंने देखा कि पैसा पैसे के रूप में हितकारी नहीं है, इतना ही नहीं; उल्टा अनिष्टकर

है। कारण गरीब का हित तो उसकी अपनी मजदूरी का फल उसी के पास रहे, इसी में है।"

सुख न लूटना और दुख न देना—यह संयम का सूत्र और शाश्वतिक सत्य है। सुख देना और दुख दूर करना—यह उपयोगिता का सूत्र है और सामयिक सत्य है। अर्थ-प्राचुर्य से समाज का विकास नहीं होता—ऐसा नहीं माना जाता। विकास की दशा भले ही दूसरी हो, प्राचुर्य को आवश्यकता से आगे नहीं ले जाना चाहिये। उपयोगिता से आगे प्राचुर्य जाता है, वह उन्माद लाता है। व्रत विकास की दिशा में अर्थ संग्रह की कल्पना नहीं आती। अर्थ-दान की बात ही कहाँ रही? अर्थ-संग्रह को उचित मानने पर विनियोग की बात आती है। उसकी (विनियोग की) ही एक शाखा दान है। व्रत का अर्थ है—अर्थ पर से अपना स्वामित्व हटा लेना। स्वामित्व हटने की पहली शर्त है—ममत्व हटे। पदार्थ-संग्रह में अपना अनिष्ट न दीखे, तब तक ममत्व-बुद्धि नहीं मिटती। संग्रह में अनिष्ट की भावना अध्यात्म दृष्टि से मिलती है। उसका आदर्श है—कोई कुछ भी संग्रह न करे। अपने से बाहर की वस्तु को अपनी न माने और न उसे अपने अधिकार में ले। यह कठोर साधना है। इसके लिए जीवन की वृत्तियों का महान् बलिदान चाहिये। ऐसा न कर सके, उनके लिए फिर मध्यम मार्ग है। उसकी दृष्टि है—जीवन-निर्वाह की। आवश्यकता से अधिक संग्रह न किया जाय।

जितना संग्रह उतना बन्धन—यह व्रत-ग्रहण की पूर्व भूमिका है। संग्रह द्वारा इष्ट-पूर्ति की कल्पना होती है, तब वह साध्य जैसा बन जाता है। आत्म-विश्वास की कमी है, उससे संग्रह को प्रोत्साहन मिल रहा है। लखपति कोटिपति भी धन कमाने की दौड़ में जुटे रहते हैं। बुढ़ापे में क्या होगा? बाल-बच्चों का क्या होगा? ऐसी आशंकाएं उन्हें सताती रहती हैं। आत्म-विश्वास उत्पन्न करने के लिए अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता अपेक्षित होती है। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिल जाये और वह योग्यता के अनुरूप मिले, ऐसी स्थिति में जीवन की निश्चिन्तता आती है। भावी जीवन और भावी पीढ़ियों की चिन्ता कम होती है, संग्रह-वृत्ति शिथिल बन जाती है। ऐसी भूमिका में व्रतों को विकसित होने का सुन्दर अवसर मिलता है। पर स्थिति दूसरी ही है। जहाँ ऐसी भूमिका है, वहाँ व्रतों की भावना नहीं है और जहाँ व्रतों की भावना है, वहाँ वैसी भूमिका नहीं है।

गरीबी में अभिलाषा बनी रहती है। अमीरी का दोष है—अतृप्ति। सन्तुष्टि या वृत्ति-संतुलन त्याग से उत्पन्न होता है। पहले वस्तु का त्याग और फिर वासना का त्याग।

त्याग समतावाद है। अपने हित के लिये सब कुछ त्यागे—यह सिद्धान्त जैसा धनी के लिये है, वैसा ही गरीब के लिए। गरीबों को त्याग द्वारा दो वस्तुएँ साधनी चाहिएं—एक व्यसन-मुक्ति, दूसरी इच्छा-मुक्ति। धनिकों को उसके द्वारा तीन वस्तुएं पानी

चाहिएं—(१) व्यसन-मुक्ति (२) इच्छा-मुक्ति (३) अशोषण।
गरीबों को करना चाहिए—बहु-भोग, बहु-परिग्रह और बहु-हिंसा की आकांक्षा का त्याग। धनिकों को करना चाहिए—बहु-भोग, बहु-परिग्रह, बहु-हिंसा, और इनकी आकांक्षा का त्याग। समाज का समतावाद सबके लिए समान सुविधा, समान भोग और विकास का समान अवसर मिलने का सिद्धान्त है। सुख-सुविधा और भोग जहां साध्य बनते हैं, वहाँ संग्रह और शोषण घुस आते हैं। अणुव्रत आध्यात्मिक समतावाद के साधन हैं। इस क्षेत्र में जीवन का साध्य है—पवित्रता और वस्तु-निरपेक्ष आनन्द। सुख-सुविधा और भोग जीवन-निर्वाह की प्रक्रिया है। उसमें अधिक आकर्षण और ममकार नहीं होना चाहिए। "मैं जैसे अनुभूतिशील हूँ वैसे दूसरे प्राणी भी अनुभूतिशील हैं"—इसकी मार्मिकता तभी समझी जाती है जब बाहरी पदार्थों से आकर्षण और ममकार टूटता है। ये व्यक्ति को मूढ बनाते हैं। मूढ व्यक्ति दूसरों की आनुभाविक क्षमता को सही-सही नहीं आंक सकता। आध्यात्मिक दृष्टि विशुद्ध दर्शन है। वह अपनी समता का स्वीकार है। अपनी मानसिक स्थिति विषम न हो, यही साम्य है। यह अमूढ दर्शन है। इसी के आधार पर अणुव्रत-आन्दोलन के स्वरूप आदि का निश्चय किया जा सकता है—

(१) अणुव्रत-आन्दोलन का स्वरूप है—स्वनिष्ठता।

(२) अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है—जीवन-शुद्धि।

(३) अणुव्रत-आन्दोलन का आदर्श है—चरित्र का उत्कर्ष ।

(४) चरित्र अपकर्ष के हेतु हैं—बहु-भोग, बहु-परिग्रह और बहु-हिंसा ।

(५) चरित्र उत्कर्ष के हेतु हैं—भोग-अल्पता, परिग्रह-अल्पता और हिंसा-अल्पता ।

(६) आदर्श प्राप्ति के साधन हैं—अणुव्रत ।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, ये पांच दोष हैं। इन में मूल दोष हिंसा है। उसकी वृत्ति विविध संयोगों में विविधमुखी बन जाती है। असत्य और चोरी, ये दोनों देह की अपेक्षाएं नहीं हैं। इसलिये ये वैदेहिक हैं। मुख्यवृत्या सामाजिक स्थिति सापेक्ष हैं। सामाजिक जीवन में जैसे यश, सम्मान, स्नेह की प्रवृत्तियाँ उभरती हैं, वैसे ही विरोध, कलह, निंदा, चुगली, दोषारोपण और भय की वृत्तियां भी प्रबल बनती हैं। इन वृत्तियों का निमित्त पा हिंसा का बीज असत्य के रूप में फूट पड़ता है। असत्य मन, असत्य वाणी और असत्य चेष्टा मनुष्य में आ जाती है फिर वह असत् के सत्करण और सत के असत्करण में लग जाता है। संक्षेप में असत्य के चार कारण बतलाये हैं—

(१) क्रोध (२) लोभ (३) भय (४) हास्य-कुतूहल ।

क्रोध के आवेश में आकर व्यक्ति यथार्थता को बदल देता है। यथार्थ का निरूपण इच्छा-पूर्ति में बाधक बनता

है तब अन्यथा निरूपण का भाव बनता है। इसी प्रकार अनिष्ट की आशंका और हँसी-मजाक भी असत्य की इमारत है।

प्रतिष्ठा बड़प्पन, पदार्थ का आकर्षण और अतृप्ति—ये चोरी के निमित्त बनते हैं। अकेलेपन में प्रतिष्ठा या बड़प्पन के भाव पैदा ही नहीं होते। यह पर-सापेक्ष-वृत्ति है। पदार्थ के प्रति आकर्षण अकेलेपन में भी होता है किन्तु वहाँ वस्तु का उपभोक्ता दूसरा नहीं होता, इसलिए उसे चुराने की वृत्ति नहीं जागती। जो स्थिति पदार्थ के आकर्षण की है, वही अतृप्ति की है। अतृप्त या असन्तुष्ट व्यक्ति का वस्तु-संग्रह आवश्यकता-निर्भर नहीं होता। वह केवल लालसा-निर्भर होता है इसलिए असन्तुष्ट व्यक्ति आवश्यकता के बिना भी दूसरे की वस्तु चुरा लेता है। इस प्रकार असत्य और चोरी, ये दोनों परिस्थिति सहचरित अपेक्षाएँ हैं। तात्पर्य की भाषा में बुराई का बीज व्यक्ति की अपनी अशुद्धि है। सामाजिक परिस्थिति का निमित्त पाकर वह अनेकरूप बन जाती है। हिंसा ही निमित्त भेद से असत्य और चोरी का रूप ले लेती है।

वैयक्तिक स्थितियाँ या दैहिक अपेक्षाएँ दो कोटि की हैं—देह प्रधान और मानस प्रधान। भूख-प्यास आदि देह प्रधान अपेक्षाएँ हैं और वासना-अब्रह्मचर्य, सुख-दुःख आदि मानस-प्रधान। अब्रह्मचर्य दैहिक है फिर भी बाहरी निमित्त से उत्तेजित होता है, इसलिए परिस्थिति-सापेक्ष भी है। परिग्रह कुछ अंशों में दैहिक है, कुछ अंशों में वैदेहिक और बाहरी स्थिति-

सापेक्ष है। खान-पान भी परिग्रह है, इस दृष्टि से वह दैहिक भी है। परिग्रह के अधिक संचय का निमित्त सामाजिक परिकल्पना है, इस दृष्टि से वह वैदेहिक भी है। व्यक्ति का मापदण्ड धन बन जाता है, जिसके पास धन थोड़ा, वह छोटा और जिसके पास धन बहुत, वह बड़ा—ऐसी परिकल्पना आ जाती है; परिग्रह के संचय का निमित्त बदल जाता है, फिर वह जीवन-निर्वाह का साधन न रहकर विलास और बड़प्पन का साधन बन जाता है। निमित्त-परिवर्तन का सिद्धान्त व्यापक है। प्रत्येक कार्य की प्रारम्भ-दशा का निमित्त आगे चलकर उसी रूप में नहीं रहता। वस्त्र के निमित्त-परिवर्तन की स्थिति देखिए, शीत और गरमी से बचाव करने के लिए वस्त्र परिधान चला। कुछ समय बाद दैहिक अपेक्षा जो थी, वह काल्पनिक बन गई। दूसरा निमित्त बना लज्जा-संरक्षण। लाज-रक्षा का विकास होते-होते सारा तन कपड़ों से ढंक गया। इससे आगे विकार-आवरण भी एक निमित्त बना। शोभा, अभिमान और स्पर्धा, ये भी निमित्त बन चुके हैं। वस्त्र-परिधान की जो उपयोगिता थी, उसे सौन्दर्य और स्पर्धा ने रौंद डाला।

समाज की धुरी अर्थ-नीति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अर्थ-नीति के आधार पर समाज बनता-बिगड़ता है। उसकी अच्छाई और बुराई के आधार पर वह अच्छा और बुरा बनता है। समाज की अर्थ-नीति श्रम-निष्ठ, स्वावलम्बी और

आत्म-निर्भर होती है, तब समाज भी अपने श्रम पर भरोसा करनेवाला और अपरिग्रह की ओर आगे बढ़नेवाला होता है। अर्थ-नीति शोषण पर आधारित होती है, अशिक्षित और शक्तिहीन वर्ग के श्रम का अनुचित लाभ उठाने की होती है, तब समाज विलासी, आलसी और संग्रहनिष्ठ बनता है। समाजवाद अर्थ-नीति को सर्वसाधारण उपयोगी यानी शोषण-हीन बनाने की प्रवृत्ति में संलग्न है। वैसा कुछ बनता सा दीख पड़ता है। फिर भी वह सत्ता और भय पर आश्रित है। अपरिग्रह का सिद्धान्त आत्माश्रित है। वह हृदय में आये तो सत्ता के दबाव के बिना ही समाज शोषणहीन बन जाए। पर जैसे जाति के आधार पर छोटा बड़ा होने की मान्यता मिटे बिना जातिवाद नहीं मिटने वाला है वैसे ही धन-राशि प्रतिष्ठा-बड़प्पन, विलास और सुविधातिरेक का साधन बनी रहेगी उस स्थिति में न अपरिग्रह वृत्ति जीवन में आने वाली है और न धन का आकर्षण छूटने वाला है। व्यवस्था-सुधार समाजवादी योजना का फलित है। अपरिग्रह के सिद्धान्त का फलित है वृत्तियों का सुधार। वृत्तियों के सुधार के लिए व्यवस्था-सुधार की अपेक्षा रहती है और व्यवस्था-सुधार का परिणाम वृत्ति-सुधार या हृदय-परिवर्तन होना चाहिये। इस भूमिका में दोनों के साध्य एक न होने पर किंचित् सापेक्ष बन पाते हैं। सुधरी हुई व्यवस्था के बिना वृत्तियों के सुधरने में कठिनाई आती है। इसलिये साधारणतया (विशेष जागरूक

व्यक्तियों को छोड़ कर) वृत्ति-सुधार को शोषण-हीन व्यवस्था की अपेक्षा रहती हैं। वृत्ति-सुधार हुए विना व्यवस्था-सुधार टिकाऊ नहीं बनता। इसलिये व्यवस्था-सुधार को वृत्ति-सुधार की अपेक्षा रहनी है।

आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन रहे, तब अणुव्रतों की कल्पना सफल नहीं हो सकती। अणुव्रती अणुव्रतों का पालन भी करे और जीवन को आर्थिक भार से बोझिल भी बनाये रखे, ऐसा बनना सम्भव नहीं। विलासी जीवन में धन चमकता है। सादगीपूर्ण जीवन में व्रत चमकते हैं। धन और व्रत, दोनों एक साथ नहीं चमक सकते। न्याय साधनों द्वारा जीवन निर्वाह उपयोगी धन मिल जाता है किन्तु आडम्बर और विलास योग्य धन नहीं मिलता। विलास के लिए धन का अतिरेक और उसके लिए अन्यायपूर्ण तरीकों का अवलम्बन— ऐसा होता है, व्रत टूट जाते हैं। इसलिए अणुव्रती को जीवन-व्यवस्था का चालू क्रम बदलना पड़ता है। ऐसा किये विना वह व्रत और विलास दोनों के साथ भी न्याय नहीं कर सकता। न वह सफल व्रती बन सकता और न सफल विलासी ही रह सकता है। इस पर से अणुव्रती के लिए जीवन-व्यवस्था के परिवर्तन की बात आती है। शोषणहीन समाज-व्यवस्था में उसे कोई कठिनाई नहीं किन्तु समाज-व्यवस्था वैसी न बनने पर भी कम-से-कम उसे तो अपना जीवन-क्रम बदलना ही होगा। धन के द्वारा बड़ा बनने की भावना, दूसरों से अधिक

सुविधा पाने की भावना, दूसरों के श्रम द्वारा अनुचित लाभ कमाने की भावना, शोषण और अवैध तरीकों द्वारा धनार्जन की भावना छोड़ देना उसका सहज धर्म हो जाता है। अणुव्रत विचार का लक्ष्य है—व्यक्ति-व्यक्ति में सहज-धर्म का विवेक जगाना, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रेरणा द्वारा बुराइयों से बचे, बचने का उपाय करे, व्रती बने, वैसी भावना पैदा करना।

चौथा अध्याय

निर्माण की दिशा में व्रतों का

: १ :

परिस्थितिवाद पर दो दृष्टियाँ

परिस्थितिवाद को लेकर दो धाराएं चल पड़ी हैं। कोई कहते हैं—आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाहरी व्यवस्था का सुधार नितान्त आवश्यक है। कई यों सोचते हैं—जटिल परिस्थितियों में भी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। इन दोनों में भी सचाई के अंश हैं। सामान्य शक्तिवाले व्यक्ति जटिल स्थितियों से लड़ नहीं सकते। उन्हें सरल स्थिति की अपेक्षा रहती है। उसी में वे कुछ भले रह सकते हैं। विशिष्ट शक्तिवाले व्यक्ति बाहरी व्यवस्था को लांघकर आगे बढ़ जाते हैं। वे बाहरी स्थिति के गुलाम नहीं होते।

अणुव्रत-आन्दोलन आध्यात्मिक, चारित्रिक या नैतिक गति का प्रेरक है। इसके पास आर्थिक सुधार या विकास की कोई योजना नहीं है। इसके पास एकमात्र योजना यही है कि मनुष्य हर स्थिति में मनुष्य रहे। अच्छी स्थिति में मनुष्य मनुष्य रहे और बुरी स्थिति में वह मनुष्य भी न रहे, यह मनुष्यता नहीं, परिस्थिति की गुलामी है। व्रत-निष्ठा का

तात्पर्य है—मनुष्य परिस्थिति का विजेता बने। बुरी परिस्थिति मे मनुष्य सत्य-निष्ठ नहीं रह सकता—अणुव्रत-दृष्टि मे यह मान्य नहीं है। स्थिति के अनुसार बुरा-भला बनने की वृत्ति परतन्त्रता की भावना है। मनुष्य ने कष्ट-सहिष्णुता का विकास नहीं किया, इसलिए वह कष्टों से घबरा परिस्थिति के सामने घुटने टेक देता है। अणुव्रती अहिंसा-निष्ठ होता है। अहिंसा-निष्ठ कष्ट-सहिष्णु होता है। वह स्थिति के सामने झुकता नहीं, उसे सहन किये चलता है। भावना की हीनता के कारण मनुष्य में तितिक्षा की कमी हुई है। अणुव्रत-आन्दोलन की अपेक्षा है—मनुष्य को उसकी शक्ति का भान हो। धारणा मे परिवर्तन होने पर सुख-सुविधा की अपेक्षा चरित्र का मूल्य बढ जायेगा। चरित्र को खोकर सुख-सुविधा पाने की वृत्ति टूटने पर मनुष्य को नीचे जाने की बात ही नहीं सूझेगी।

जीवन की सामान्य सुख-सुविधाओं की उपेक्षा हो, ऐसी दृष्टि अणुव्रत-आन्दोलन की नहीं है। इसकी दृष्टि है—सुख-सुविधा पाने के साधन दोषपूर्ण न हों, कभी न हों, किसी भी स्थिति में न हों।

: २ :

अपरिग्रह की ओर

परिग्रह मनुष्य की मान्यता है। वस्तु का मूल्य और वस्तु के द्वारा सुख होने का विचार भी उसकी मान्यता है। आवश्यकता की जो पूर्ति है, वह सुख या असुख कुछ भी नहीं है। उससे आगे जो सुख की कल्पना है, वह मानसिक मान्यता है। पदार्थ न परिग्रह है, न बन्धनकारक और न दुःखदायी। हमारी इच्छा उससे जुड़ती है तभी वह परिग्रह, बन्धन-कारक और दुःखदायी बनता है। वस्तु-स्थिति में परिग्रह इच्छा ही है। वह मनुष्य की अपनी स्थिति है। वह बाहरी पदार्थों से सम्बद्ध होकर उन्हें भी परिग्रह बना डालती है। फिर इच्छा-प्राचुर्य से अर्थ-प्राचुर्य और अर्थ-प्राचुर्य से इच्छा-प्राचुर्य, इस प्रकार दोनों की कड़ी जुड़ जाती है। समाजवाद के अनुसार अर्थ-प्राचुर्य से कल्याण माना जाता है। वह प्रचुरता का दर्शन है। व्रत-दृष्टि ऐसी नहीं है। इच्छा-प्राचुर्य दोनों को मान्य नहीं है। व्यक्ति की इच्छा का नियंत्रण दोनों चाहते हैं। अधिक इच्छा और अधिक संग्रह से व्यक्ति अधिक

नीचे गिरता है इसलिये व्रत की दृष्टि है—व्यक्ति इच्छा और संग्रह पर नियन्त्रण करे। समाज-दृष्टि व्यक्तिगत अधिक संग्रह को इसलिये बुरा मानती है कि उससे समाज में शोषण अधिक बढ़ता है। अनीति प्रबल होती है। समाजवाद ऐसी स्थितियों का निर्माण चाहता है, जिससे कोई भी व्यक्ति अधिक संग्रह कर ही न सके। व्रत की भावना यह है कि कोई भी व्यक्ति अधिक परिग्रही न बने, ऐसा विवेक उसमें जाग जाये। यह विवेक-जागरण ही अपरिग्रह का मार्ग है।

: ३ :

परिग्रह का अल्पीकरण

सामाजिक व्यक्ति के लिये अपरिग्रह का पूर्ण व्रत कल्पनामात्र हो सकता है। सचाई यह है कि वह परिग्रह से पूर्ण मुक्ति नहीं पा सकता, उसका अल्पीकरण कर सकता है, अपरिग्रह का व्रत ले सकता है। सम्पत्ति व्यक्तिगत रहे या उसका समाजीकरण हो जाये, दोनों परिग्रह हैं। परिग्रह के समाजीकरण में लालसा का रूपान्तर हो जाता है, उसकी निवृत्ति नहीं होती। यह समाज के लिये उपयोगी व्यवस्था हो सकती है, पर इसे अपरिग्रह-व्रत नहीं कहा जा सकता।

व्यक्तिगत सम्पत्ति में केवल अपना अधिकार होता है और समाजीकृत सम्पत्ति में सामूहिक अधिकार में से व्यक्तिगत भाग मिल जाता है। सम्पत्ति से सम्बन्ध जुड़ा रहता है, वैसी दशा में पूर्ण अपरिग्रह की बात नहीं आती। व्रत आत्मोदय की भूमिका पर टिके हुए हैं, इसलिये मन में मुख्य बात परिग्रह के अल्पीकरण की है। उसके होने पर समाजीकरण की

व्यवस्था स्वयं सरल बन जाती है। अपरिग्रह-अणुव्रत की भावना यही है कि कोई व्यक्ति संग्रह करे ही नहीं किन्तु कल की चिन्ता जो होती है—काम किया जा सके या नहीं? कमाया जा सके या नहीं? मिले या नहीं? वही संग्रह का हेतु है। यदि सामाजिक व्यवस्था निश्चिन्तता की स्थिति पैदा कर दे तो फिर कौन संग्रह का मोह करेगा? विशिष्ट अणुव्रतियों ने एक लाख के संग्रह की छूट रखी है, यह वैयक्तिक व्यवस्था पर आधारित है। जीवन के भरण-पोषण की व्यवस्था सामूहिक हो जाये तो उसकी अपेक्षा नहीं रहेगी। भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति का प्रतिशत देखते हुए एक लाख की संख्या अधिक है। पारिवारिक जीवन के सामान्य स्तर की अपेक्षा अधिक नहीं भी हो सकती है। अणुव्रत आन्दोलन का दृष्टिकोण केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। हिन्दुस्तान का आर्थिक स्तर भी ऊँचा उठ रहा है। सारी स्थितियों की विमर्षणा के बाद अणुव्रतियों को यही संख्या उपयुक्त लगी। यह उत्कृष्ट सीमा है। इससे अधिक संग्रह किया ही नहीं जा सकता। इतना संग्रह किया जाय या रखा जाय, यह अपेक्षा नहीं है। बहुत सारे विशिष्ट अणुव्रती इस संख्या का चतुर्थांश भी नहीं रख रहे हैं। बहुतों के पास इतना नहीं भी है। अर्जन-पद्धति पर अंकुश लगने के कारण अधिक संग्रह बढ़ाने का उनके पास साधन भी नहीं है। संग्रह बढ़ाना उनका ध्येय भी नहीं है, इसलिये व्यक्तिगत सम्पत्ति रहने से लालसा अधिक बढ़ेगी—

ऐसी सामान्य कल्पना नहीं की जा सकती। लालसा का नियन्त्रण व्रत की साधना से होता है। जीवन के निर्वाह के साधनों की सुलभता वैयक्तिक पद्धति से हो या सामूहिक पद्धति से, इसमें विवाद नहीं। लालसा दोनों विकल्पों में भी बढ़ सकती है। व्रत व्यक्ति की आन्तरिक लालसा का नियन्त्रण है। तत्त्वतः यह (लालसा का) नियंत्रण ही परिग्रह का अल्पीकरण है।

: ४ :

व्यक्ति-निर्माण की दिशा

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-निर्माण की दिशा है। सत्ता से सामूहिक ढाँचा बदल जाता है। व्रतों से वैसा नहीं हो पाता। सत्ता बाहरी रूप बदलती है, वह अन्तर को नहीं छूती। व्रत अन्तर को छूते हैं। अन्तर का परिवर्तन आन्तरिक योग्यता पर निर्भर होता है। वह सबकी समान नहीं होती। इसलिए एक साथ वैसा नहीं बनता। इस स्थिति में व्यक्ति निर्माण की बात शेष रहती है। व्यक्ति समाज का अङ्ग है। यदि एक अंग भी ज्योति-पुंज बनता है, उससे समूचे समाज को आलोक मिलता है। अणुव्रत-आन्दोलन आध्यात्मिक है। इसकी दिशा सबके साथ चलने की नहीं है। बुराइयाँ कर-कर सब लोग सुख-सुविधाएं पा रहे हैं, फिर अकेला मैं ही उन्हें छोड़ सुख-सुविधाओं से क्यों वंचित रहूँ? जो सबको होगा वही मुझे होगा, यह विचार अन्-आध्यात्मिक है। व्यक्ति का पतन उसके अपने बुरे कर्म से होता है, इसलिए मुझे उससे अवश्य बचना चाहिये, यह आध्यात्मिक चेतना है। व्यक्ति-निर्माण की सही दिशा यही है। आन्दोलन की कल्पना है कि प्रत्येक व्यक्ति—

(१) अभय (२) सहिष्णु (३) समभावी (४) पवित्र (५) सन्तुष्ट (६) शान्त (७) जितेन्द्रिय और (८) आग्रहहीन···बने।

: ५ :

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

नीति शास्त्र के अनुसार "नैतिकता व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है। राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई की वृद्धि करना है। ग्रीन महाशय का कथन है कि मनुष्य को "आत्म-कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करनी चाहिए। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण की चेष्टा करता है, वह समाज का सच्चा कल्याण अपने आप ही कर देता है।" (नीति शास्त्र पृष्ठ ४२-४३) ऊपर की पंक्तियाँ व्यक्तिवादी विचारणा की प्रतीक हैं। व्यक्तिवाद स्वार्थपरता है, इसलिए वह समाज को नहीं भाता। नैतिकता और व्यवहार की रेखाएँ दो दिशाओं में चलती हैं। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता आवश्यक है किन्तु राजनीति का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समाज के लिए समर्पण है, नीति शास्त्र का ध्येय मनुष्यों को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है और राजनीति का ध्येय

सामाजिक भलाई को प्राप्त करना है। राजनीति की दृष्टि बहिर्मुखी होती है और नीति शास्त्र की दृष्टि अन्तर्मुखी।" (नीति शास्त्र)

बहिर्मुखी दृष्टि से देखने पर व्यक्तिवाद स्वार्थपरता से अधिक मूल्यवान् नहीं लगता पर सही माने में यह स्वार्थ-परायणता नहीं है। यह आत्म-निष्ठता है। अपना कल्याण किये बिना दूसरों के कल्याण की बात थोथी होती है। वैयक्तिक कल्याण की मर्यादा को न समझनेवालों से समाज का उच्चतम कल्याण नहीं हुआ है। वैसे व्यक्तियों द्वारा सम्भव है, समाज को बाहरी सफलताएं मिली हों, नैतिकता की दृष्टि से वे मूल्यवान् नहीं हैं। "नैतिक प्रयत्न द्वारा मनुष्य बाहरी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता वरन् आन्तरिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और यह पूर्णता हेतु की पवित्रता से ही आती है, बाह्य सफलता से नहीं।" (नीति शास्त्र पृ० १६७)

निश्रेयस्[1] के साथ अभ्युदय[2] आता है। यह दूसरों को चोट नहीं पहुँचाता। कोरा अभ्युदय किसी महान् साध्य का प्रासंगिक फल या गौण परिणाम नहीं होता, इसलिये वह शुद्धि की मर्यादा का वाहक नहीं रह सकता। समाज समर्पण और और परस्परोपग्रह[3] की प्रयोग भूमि है, इसलिये वह अभ्युदय-

१—आत्मिक-उत्थान।

२—आर्थिक या सामाजिक उत्थान।

३—आपसी सहयोग।

वादी है। एक-एक व्यक्ति अभ्युदय और निश्रेयस् का संगम-स्थल होता है। व्यक्ति समाज बन्धन से बिल्कुल खुला नहीं होता है तो बिल्कुल बंधा भी नहीं होता। समाज की अपेक्षाओं से वह जुड़ा होता है इसलिए वह अभ्युदयकारी होता है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों के शोधन व नियमन में वह समाज मुक्त भी होता है, इसलिये वह अभ्युदयवादी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति आत्म-मोक्ष की मर्यादा में व्यक्ति-शोधन और सामाजिक अपेक्षाओं की स्थिति में अभ्युदयकरण, इन दोनों की सहस्थिति लिए चलता है। यह अभ्युदय और निश्रेयस् का पृथक्करण नहीं किन्तु उनकी मर्यादा का विवेक है। अभ्युदय और निश्रेयस् दो न हों तो फिर उनके द्वैत की कल्पना भी व्यर्थ है। यदि वे दो हैं तो उनके स्वरूप दो होंगे। दो स्वरूपवाली वस्तुओं को एक मानना मति-विपर्यय है।

अभ्युदय और निश्रेयस् की आराधना का देश-काल की दृष्टि से बँटवारा हुआ। उससे अवश्य ही सम्मोह बढ़ा। अमुक काल और अमुक क्षेत्र धर्म या निश्रेयस् की आराधना का है और अमुक देश, काल अभ्युदय या व्यवहार की आराधना का, इस प्रकार निश्रेयस् और अभ्युदय की साधना का बंटवारा हुआ, वह उचित नहीं है। किन्तु इनके स्वरूप का स्वयंजात पार्थक्य है, वह अकृत्रिम है, इसलिए वह अस्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक कार्य निश्रेयस् के लिए हो, यह स्थिति साधना

के उत्कर्ष की है। इससे पहले सबकी सब क्रिया निःश्रेयस् के लिए नहीं होती। स्वजाति, समाज, राष्ट्र, अपर राष्ट्र के अभ्युदय के लिए निःश्रेयस् से मेल न खानेवाली भी बहुत सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन्हें निःश्रेयस् की साधना नहीं कहा जा सकता। इसलिए निःश्रेयस् और अभ्युदय का स्वरूप-भेद, साधना-भेद, परिणाम-भेद स्वयं सत्यंकार है। निःश्रेयस् की व्याख्या में "जहाँ तक किसी प्रकार का आचरण इस निःश्रेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है, वहाँ तक आचरण को भला कहा जाता है।" (नीति शास्त्र पृ० १६८) "जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के वश में आता है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है।" (नीति शास्त्र पृ० १६८) अभ्युदय के मार्ग में भलाई-बुराई की परिभाषा समाज की उपयोगिता-अनुपयोगिता से जुड़ी हुई होती है और वहाँ राग-द्वेष का मर्यादित आचरण भी निन्दनीय नहीं समझा जाता।

अभ्युदयवाद का आधार सुखवाद (स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार के) और सुखवाद का आधार जड़वाद है। मौत प्राणी की पूर्ण समाप्ति है। यह जड़वाद की पूर्व मान्यता है। इसलिए उसमें जीवन और उसके आधारभूत नव शरीर का सर्वोपरि महत्त्व है। निःश्रेयस् साधना में जीवन और शरीर का महत्व नहीं, वहाँ उनके नियमन-संयम का महत्व है। जीवन क्षण-भंगुर और शरीर असार है, उसमें स्थिरता का अंश और सार-भाव इतना ही है कि जितना वह निःश्रेयस् का साधन बने।

इसलिए अणुव्रत का घोष है—"संयमः खलु जीवनम्" संयम ही जीवन है। जीना संयम नहीं है, निश्रेयस् की विचारणा में वस्तुतः जो संयम है, वही जीवन है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद व्रत का आधार नहीं बन सकता। सुख मिले, दुःख न हो, जीवन बना रहे, मौत न हो—यह प्राणीमात्र की स्वाभाविक मनोवृत्ति है। सुखैषणा और प्राणैषणा से प्रेरित हो वे सुख-सुविधा के साधन जुटाते हैं। सुख-सुविधा में कहीं खलल न पड़ जाय—यह वृत्ति आगे बढ़ती है। उससे संग्रह का भाव आता है। वह मन के बाँध को तोड़ डालता है। फिर आवश्यकता की बात गौण हो जाती है। सिर्फ संग्रह के लिए संग्रह प्रधान बन जाता है। दूसरों के शोषण, उत्पीड़न, दमन आदि सभी कुचेष्टाओं के पीछे यही मनोवृत्ति होती है। सुख पाने और दुःख से बचने की वृत्ति को 'मनोवैज्ञानिक सुखवाद' कहा जाता है। नीति शास्त्र की दृष्टि से इसे संग्रहवाद कहना चाहिए। अभ्युदय में सुख की कामना छूटती नहीं, इसलिए सामाजिक क्षेत्र में दूसरों को दुःख देकर सुख पाने और दूसरों को मार कर जीने की वृत्ति बुरी है, यह माना गया। निश्रेयस् आनन्दमय है। आनन्द चरित्र का उदात्तीकरण है। सुख पौद्गलिक तृप्ति या पूर्ति है। इसलिए वैयक्तिक जगत् में आनन्दानुभूति के लिए सुख की कामना को बुरा माना गया। शरीर धारण और जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य अपेक्षाओं को पूरा करना सुखवाद नहीं है। वह आवश्यकता की पूर्ति

है। जीवन-निर्वाह की दो प्रधान जरूरतें हैं—कपड़ा और रोटी। रोटी जैसे शरीर की सहज माँग है, वैसे कपड़ा उसकी सहज अपेक्षा नहीं है, फिर भी लज्जा का संस्कार समाज में इतना प्रधान बन गया कि कपड़ा पहली जरूरत बन गया। रोटी के बिना कई दिन काम चल सकता है, पर कपड़े के बिना एक घण्टा भी काम नहीं चलता। रोटी की खोज में आदमी तभी जा सकता है जबकि कपड़ा पहने हुए हो। भावना का अतिरेक भी हुआ है। बम्बई की बात है—एक दिन मैंने एक भाई से पूछा-इस टाई का क्या उपयोग है? उत्तर मिला—कुछ भी नहीं। मैंने कहा—फिर इसका प्रयोग क्यों? उत्तर मिला—एक दिन इसे बाँधे बिना ऑफिस में चला गया तो अधिकारी ने कहा—टाई न बाँधना हो तो नौकरी छोड़ दो। जो कपड़ा अपने आदि-काल में लज्जा, शीत, ताप आदि का त्राण बना, वह विकास पाते पाते भावना का त्राण बन गया। यह अनर्थ प्रयोग है। अर्थ प्रयोग की दृष्टि से समाज के संस्कारानुसार वह जीवन की पहली जरूरत है, इसमें कोई दो मत नहीं। दूसरी जरूरत रोटी है, तीसरी अपेक्षा है—घर। ये अपेक्षाएं अपेक्षामात्र रहती हैं, तब तक व्यक्ति इन्हें पूरी करता चला जाता है। किन्तु जब इनकी पूर्ति में सुख-साधना, आराम और विलास का विशेष भाव जुड़ जाता है, तब ये अपेक्षाएं गौण बन जाती हैं और सुख साधना मुख्य बन जाती है। यह है सुखवाद। इसकी दिशा में सहज तृप्ति मिट जाती है। अतृप्ति का ताँता-सा

लग जाता है। उपाध्याय विनयविजयजी ने सुखवाद की परम्परा को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है :—

"प्रथममशनपानप्राप्तिवाञ्छाविहस्ता—
स्तदनुवसनवेश्मालङ्कृतिव्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान्,
सततमभिलपन्तः स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन् ॥

रोटी, पानी, कपड़ा, घर, आभूषण, स्त्री, सन्तान, प्रिय, इन्द्रिय, विषय-स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द—इस प्रकार इच्छा-क्रम सतत-प्रवाही है। इसमें वहनेवाला व्यक्ति महा हिंसा और महा परिग्रह की दिशा में चला जाता है। इस पर नियन्त्रण जो हो, वही व्रत है। व्रती जीवन में इच्छा नियन्त्रित हो जाती है। केवल जीवन की अपेक्षा शेष रहती है। व्रत के द्वारा जीवन की दिशा वदल जाने पर व्यक्ति हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की ओर चल पड़ता है। जीवन-निर्वाह के लिए अल्प हिंसा और अल्प परिग्रह रहता है, वाकी की कामनाएं धुल जाती हैं। यही कारण है कि व्रत की भावना में सुख का प्रश्न प्रधान नहीं रहता। वहाँ मुख्य वात हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की होती है। यही व्रत का आधार है।

: ६ :

अणुव्रती समाज व्यवस्था

जीवन की आवश्यकताएँ नहीं छूटतीं—यह निर्विकल्प है। विकल्प उनके पूर्ति-क्रम में होते हैं। पूर्ति की पद्धति सामाजिक होती है। निर्वाह की जिस पद्धति को समाज उचित या अनुचित मानता है, उसके पीछे उसकी दार्शनिक मान्यताएँ होती हैं। इच्छा पर नियन्त्रण सभी समाजों में होता है। यह समाज एकरूपता है। नियन्त्रण का तारतम्य और उसके प्रेरक हेतु सबमें एक रूप नहीं होते। नियन्त्रण के चार प्रकार हैं—(१) भौतिक (२) राजनीतिक (३) सामाजिक (४) नैतिक या आध्यात्मिक। उनके प्रेरक हेतु क्रमशः—प्रकृति-भय, राज्य-भय, समाज भय और आत्मपतन भय हैं। इनमें पहले तीन भय बाहरी और आखिरी आन्तरिक है। प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उलंघन करनेवाला उनके द्वारा दण्ड पाता है। इसलिए दण्ड की आशंका हो, वहाँ उनकी मर्यादा का पालन और जहाँ वह न हो वहाँ मर्यादा की अवगणना भी हो जाती है। आत्मिक नियन्त्रण दण्ड प्रेरित नहीं होता। वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक-जागरण है। इसलिए उसमें बाहर-भीतर का द्वैध नहीं होता। प्रकाश या तिमिर, परिषद् या एकान्त में बुराई से बचने की समवृत्ति हो जाती है, यही आध्यात्मिक भय है। यह भय रखनेवाला बाहर की किसी

भी शक्ति से नहीं डरता, इसलिए सही माने में यह अभय है। अणुव्रती-समाज-व्यवस्था में नियन्त्रण का प्रेरक हेतु आत्म-पतन का भय है। उसमें वही व्यवस्था या विधि उचित मानी जाती है, जो आत्म-पतनकारक नहीं होती। आवश्यकता-पूर्ति का क्रम व्रतों में वाधा डालनेवाला नहीं होता। व्रतों में वाधा वासना से आती है। आवश्यकता और वासना का पृथक्करण करना ही अणुव्रती-समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

आवश्यकताएँ अधिक रहें, वैसी दशा में नैतिक निष्ठा वन नहीं सकती। उसके विना व्रत केवल औपचारिक हो जाते हैं। इसलिए आवश्यकताएँ कम करना भी अणुव्रती-समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

अधिक आवश्यकताएँ निर्वाहमूलक नहीं होतीं। वे इच्छा पर नियन्त्रण न कर सकने की स्थिति में होती हैं। यह रोग का मूल है। इच्छा पर नियन्त्रण नहीं होता है, तव आवश्यकताएँ वढ़ती हैं। जव आवश्यकताएँ वढ़ती हैं, नैतिक निष्ठा कम होती है। नैतिक निष्ठा कम होती है, व्रत औपचारिक वन जाते हैं। औपचारिक व्रतों से वह शान्ति नहीं मिलती, जो व्रतों से मिलनी चाहिए। इसलिए अणुव्रती समाज-व्यवस्था का सवसे पहला या प्रधान लक्ष्य है—इच्छा का नियन्त्रण। संक्षेप में—इच्छा-नियन्त्रण के द्वारा आवश्यकता का अल्पीकरण और उसके द्वारा आवश्यकता और वासना का पृथक्करण करना अणुव्रती-समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

: ७ :

अणुव्रती समाज-व्यवस्था की तीन भूमिकाएँ

खाना स्वाभाविक लगता है। नहीं खाना स्वाभाविक नहीं लगता। खाने का समय नहीं खाने के समय की अपेक्षा बहुत थोड़ा होता है। खाना शरीर की जरूरत है, इसलिये प्राणी खाता है। जरूरत पूरी होने पर नहीं खाता, यह उसका हित है, इसलिये वह खाना छोड़ देता है—खाने पर नियन्त्रण कर लेता है। नियन्त्रण शक्ति कम होती है, वह पेटू बन जाता है, जरूरत पूरी हो जाने पर भी खाता ही रहता है। यह विकार-पक्ष है। परिमित खाना स्वभाव-पक्ष है। आरोग्य-संवर्धन के लिये स्वभाव पक्ष का प्रतिरोध करना—नहीं खाना, भूख सहना—यह हित पक्ष है। समाज की सारी वृत्तियाँ इन तीनों पक्षों में समा जाती है। कानून या विधि-विधान व्यक्ति को विकार-पक्ष से स्वभाव-पक्ष की ओर अग्रसर करता है। व्रत

स्वभाव-पक्ष से हित-पक्ष की ओर जाने की साधना है या यूँ कहना चाहिये—विकार और स्वभाव में विरोध होता है, तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित में विरोध होता है तब आध्यात्मिक या नैतिक व्रतों की साधना अपेक्षित होती है। विकार, स्वभाव और हित को परिभाषा की संज्ञा में अति मात्रा, मात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप वासना की अति मात्रा-पूर्ति विकार है। वासना की परिमित मात्रा-पूर्ति शरीर का स्वभाव है। वासना-विजय या वासना की अमात्रा हित है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकर्तव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकर्तव्य है। शरीर-स्वभाव की दृष्टि से अति मात्रा खाना अकर्तव्य है पर आवश्यक व उपयोगी खाना अकर्तव्य नहीं है। परन्तु हित की दृष्टि से परिमित खाना भी अकर्तव्य हो जाता है। दूसरे के लिये पहले का त्याग (उत्तरवर्ती के लिये पूर्ववर्ती का त्याग) कर्तव्य की विशेष प्रेरणा से ही होता है। व्यक्ति में विवेक जागरण का उत्कर्ष होता है, तभी वह स्वभाव के लिये विकार का और हित के लिये स्वभाव का त्याग करता है।

जिस ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा हो, वही उसका कर्तव्य माना जाये तो अकर्तव्य जैसा कुछ बचा ही नहीं रहता। शोषण, संग्रह और सत्ता की ओर मनुष्य की जैसी स्वतः स्फूर्त प्रेरणा होती है, वैसी भले कार्यों के प्रति नहीं होती। किन्तु यह विकार के मोहक आवरण से ढंकी हुई स्वाभाविक प्रेरणा है,

इसलिये यह अकर्तव्य है। वैध ढंग से व्यापार, परिग्रह और अधिकार प्राप्ति की ओर जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है, उसके पीछे आवश्यकता या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है, इसलिये यह सामान्य कर्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज के वर्तमान मानस में स्वाभाविक प्रेरणा लभ्य नहीं है, इसलिये ये प्रधान कर्तव्य हैं।

अणुव्रती समाज व्यवस्था में—अकर्तव्य का वर्जन, सामान्य कर्तव्य का नियंत्रण और प्रधान कर्तव्य का विकास—ये तीन भूमिकाएँ होंगी, जिनका स्थूल संकेत आन्दोलन की तीन श्रेणियों से परिलक्षित होता है।

: ८ :

नया मूल्यांकन—नया आकर्षण

परिस्थिति के मूल्यांकन और आकर्पण की दृष्टि वदले विना समाज की स्थिति में मोड़ नहीं आता। इसलिये अणुव्रती-समाज की व्यवस्था के मूल्य और आकर्पण नये होने चाहिएं। इसमें मूल्यांकन की दृष्टि त्याग और आकर्षण की दृष्टि आत्मिक पवित्रता का संरक्षण और विकास होगी। श्रम के द्वारा मूल्यांकन करने की वात कही जाती है पर अणुव्रत-दृष्टि के अनुसार श्रम आवश्यकता की कोटि का है। वह जीवन की प्राथमिक या अनिवार्य आवश्यकता है, साधना नहीं। इसलिये वह समाज के उत्कर्ष की अपेक्षा वन सकता है, मान-दण्ड नहीं। त्याग आवश्यकता की पूर्ति नहीं है, वह पवित्रता का आचरण है। इसलिये उसमें मान-दण्ड वनने की क्षमता है। श्रम करे या न करे, कर सके या न कर सके, पर अपवित्रता का त्याग श्रमिक और धनिक-दोनों श्रेणियों के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार कहा जा सकता है—त्याग कोई करे या न करे, कर सके या न कर सके, श्रम तो दोनों के लिए आवश्यक

है। इस प्रकार दो स्वतन्त्र विकल्पों से त्याग और श्रम दो स्वतन्त्र वृत्तियाँ बन जाती हैं। त्याग श्रम नहीं है और श्रम त्याग नहीं है। किन्तु जहाँ श्रम है वहाँ त्याग सरलता से आ सकता है, बढ़ सकता है और जहाँ त्याग है वहाँ श्रम टिक सकता है। भोग-प्रधान जीवन में विलास आता है। उससे श्रम की वृत्ति टूट जाती है। असल में श्रम की प्रधानता में त्याग आ भी सकता है और नहीं भी। किन्तु त्याग की प्रधानता (औपचारिक नहीं किन्तु हार्दिक त्याग की प्रधानता) में श्रम अपने आप आयेगा। इस प्रकार अणुव्रती-समाज-व्यवस्था में श्रम नीचा नहीं माना जाएगा। वह जीवन-निर्वाह की अनिवार्य अपेक्षा की दृष्टि से देखा जाएगा। व्रतों की सुरक्षा के लिये परावलम्बन यानी विलास की ओर वृत्ति नहीं पनप सकेगी। अधिक पैसे का साध्य परिणाम विलास और प्रासंगिक परिणाम परावलम्बन होता है। व्रत का साध्य-परिणाम पवित्रता और प्रासंगिक परिणाम स्वावलम्बन या श्रम है। पैसे की जगह मूल्यांकन का साधन व्रत बने, विलास का आकर्षण छूटकर पवित्रता का आकर्षण बढ़े, तभी परावलम्बन का स्थान स्वावलम्बन ले सकता है। इसलिए समाज और विशेषतः भावी पीढ़ी के संस्कारों को प्रारम्भ से ही इस नए मूल्य और आकर्षण की दृष्टि दी जाए, इसका मौलिक प्रयत्न होने की अपेक्षा है।

: ६ :

अहिंसक समाज की कल्पना

अणुव्रत-आन्दोलन की कल्पना है, अहिंसक समाज बने। समाज अहिंसक बने, इसका अर्थ यह नहीं कि सर्व-हिंसा-त्यागी मुनि बने। अहिंसा का अणुव्रत लेना सबके लिये सम्भव है, पर मुनि बनना (या अहिंसा का महाव्रती बनना) सबके लिये सम्भव नहीं है। कल्पना वही होनी चाहिये, जो सम्भव हो। अहिंसा का अणुव्रत समाज के लिये असम्भव नहीं है।

अहिंसक समाज बने—इसका तात्पर्य यह है कि अहिंसा और सत्य को सर्वोपरि साध्य मानकर चले, वैसा समाज बने। अहिंसक समाज में भोग, परिग्रह और हिंसा ये नहीं होंगे ऐसी बात नहीं किन्तु उसमें आवश्यकता से बढ़कर इनका स्थान नहीं होगा। ये साध्य तो नहीं ही होंगे।

जो हिंसक कहलाता है, वह सदा हिंसा ही करता है, यह बात नहीं है। अहिंसक कहलाने वाला कभी भी हिंसा नहीं करता, यह भी नहीं है। निश्चय-दृष्टि में हिंसक और अहिंसक की चर्चा बहुत सूक्ष्म हो जाती है। व्यवहार-दृष्टि में हिंसा-

प्रधान व्यक्ति या समाज को हिंसक और अहिंसा-प्रधान व्यक्ति या समाज को अहिंसक कहा जाता है। हिंसा के प्रधान कारण हैं—अपनापन और इच्छा का विस्तार। जिस वस्तु के साथ व्यक्ति का अपनत्व जुड़ता है, उसकी रक्षा के लिए उसमें आग्रह का भाव बन जाता है। उसे निभाने के लिए फिर हिंसा करने में कोई सिकुड़न नहीं होती। इच्छा का विस्तार और हिंसा, ये सदा साथ साथ चलते हैं। अपनत्व की भावना को विस्तृत और इच्छा को सीमित किये बिना हिंसा की प्रधानता नहीं मिट सकती। अहिंसक समाज की रचना के ये दो स्तम्भ हैं। इनका निर्माण आत्मौपम्य और संयम से होता है।

: १० :

अन्तर के आलोक में हमारी जीवन-दिशा

समाज और राज्य की परिचालिका नीति बाहरी प्रकाश है। वह देश, काल और स्थिति की उपज होती है। उसके अनुसार कोई भी कार्य बुरा या भला ही नहीं होता, किन्तु बुरा या भला भी होता है। अध्यात्म-दृष्टि या चरित्र-निर्मापिका दृष्टि अन्तर का आलोक है। वह शाश्वत सत्य है, उसकी सीमा में देश-काल की अस्थिरता नहीं होती। नीति का आधार सद्-व्यवहार और समाज की भलाई है। अध्यात्म का आधार अन्तर-शोधन और आत्मा की भलाई है। अध्यात्म जड़ है, नीति उसकी शाखा। जड़ के बिना शाखा का स्थायित्व नहीं होता, अध्यात्महीन नीति थोड़े में लड़खड़ा जाती है। इसलिये उसे अध्यात्म का अवलम्ब लेना ही चाहिये। इसमें एक दार्शनिक कठिनाई भी है। नीति का विचार सर्वसाधारण है, वैसे अध्यात्म का विचार सर्व-सम्मत नहीं है। आत्मा, अमरत्व, पुनर्जन्म अपने किये कर्मों का अवश्य भोग, परमात्म पद, ये अध्यात्मवाद की पूर्व मान्यताएँ हैं। अनात्मवादी को ये स्वीकार नहीं होतीं, इसलिये दोनों के चरित्र का मापदण्ड अन्त तक एक नहीं होता। नीति सामाजिक जीवन की उपयोगिता है, इस दृष्टि से वह आत्मवादी को भी मान्य होती है पर अध्यात्मवाद नीतिवादी को मान्य नहीं होता, अतएव समाज की भूमिका से परे विकास पानेवाले चरित्र का मूल्य

आत्मने की दृष्टि उसमें नहीं होती। अणुव्रत इस समस्या का समाधान है। उसका विचार न नीति है और न उस पर टिका हुआ है। उसका आधार शुद्ध आध्यात्मिकता है, उसकी आराधना का ध्येय आत्म-शोधन के द्वारा परमात्मा की ओर प्रयाण है। नीति का परिमार्जन उससे सहज ही जाता है, इसलिये नीतिवादी और आत्मवादी दोनों के लिये वह समन्वय का मार्ग है।

आज व्यक्ति का जीवन उद्देश्य-शून्य, दिशा-शून्य हो गया। वह चलना चाहता है, पर दिशा नहीं मिल रही है। उसमें बुद्धि कौशल है, विवेक शक्ति है पर जीवन की सही दिशा ढूँढने में या तो वह समर्थ नहीं है या उसे ढूँढने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। कुछ तो है ही। दिशा-भ्रम हो रहा है। इसीके परिणामस्वरूप पूँजी का मोह, आकर्षण और अधिकाधिक उपार्जन हो रहा है। पूँजी का अर्जन कितना और कैसे करना इस परिणाम और साधन की मर्यादा का विवेक नहीं रहा है। इसीलिये अनावश्यक संग्रह और निकृष्टतम स्थानों से धन कमाने में मनुष्य की शक्ति खप रही है। फलस्वरूप मनुष्य का जीवन बोझिल बन रहा है, अनेक अनिष्ट विकल्प खड़े हो रहे हैं।

पदार्थ परक विकास जीवन में शान्ति लायेगा, सुख लायेगा और जो लोक-प्रतिष्ठा का प्रश्न है, वह भी बलवान बनेगा, एक ऐसी मान्यता है। इसने विशेष रूप से वैज्ञानिक और शिक्षित

जगत् को आकृष्ट किया है या यों कहना चाहिये कि वह जगत् ही उस मान्यता का स्रष्टा है।

दूसरी मान्यता संयम-विकास या प्रतिरोधात्मक शक्ति के विकास की है। उसकी ध्वनि है—आवश्यकताओं पर नियंत्रण करो, अपना संयम करो, वृत्तियों का प्रतिरोध करो, वस्तुओं का अतिमात्र उपयोग मत करो।

दोनों भिन्न दिशाएं हैं। चौराहे पर खड़े व्यक्ति को निर्वाचन करना है, उसे कहाँ और किस रास्ते से जाना है? पदार्थ-विकास ने जगत् को अशान्त और विपम बना रखा है यह प्रकाश की भाँति स्पष्ट है। फिर भी इच्छा का अल्पीकरण और वस्तु का सीमाकरण अच्छा नहीं लग रहा है। विलास और बड़प्पन की वृत्ति संयम की बाधक बनी हुई है। यह भोगवाद की परिस्थिति है। इसके निर्माण के दो हेतु हैं—(१) व्यक्ति की आत्मिक कमजोरी और (२) व्रत-पालन के अनुरूप भूमिका का अभाव। राष्ट्र, समाज और परिवार का वातावरण व्रत के अनुरूप नहीं होता, तब तक व्यक्ति को व्रत-पालन की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। जीवन-निर्वाह की अनिश्चितता, प्रतिष्ठा और भोग-विलास की तीव्र भावना से धन के अतिमात्र संग्रह की वृत्ति पुष्ट होती है। निर्वाह की चिन्ता का सम्बन्ध समाज-व्यवस्था से है। भोग-विलास की तीव्र भावना का सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी भावना से है। समाज की व्यवस्था उत्तरदायित्वपूर्ण और प्रतिष्ठा की मान्यता का आधार योग्यता हो तथा व्यक्ति में भोग-नियन्त्रण की शक्ति

बढ़े, तभी सामूहिक रूप से अपरिग्रह की भावना को बल मिल सकता है।

जो श्रम करता है, वह छोटा समझा जाता है। उसमें स्वयं ही हीनता की भावना बन जाती है। बड़ा वह है, जो ज्यादा धनी है, बड़े मकानों में रहता है, भौतिक सुख-सुविधा से अधिक सम्पन्न है। भलाई और नीति के पथ पर चलकर व्यक्ति छोटा कहलाये, यह उसे अच्छा नहीं लगता, तब वह धन-संग्रह का मार्ग चुनता है। वहाँ सत्य और न्याय की बात गौण बन जाती है या उड़ जाती है। बड़ा-छोटा बनने का आधार पैसा रहे, वैसी दशा में अपरिग्रह की भूमिका नहीं बनती। पैसे का मोहक आकर्षण मूल्यांकन की दृष्टि को बदल देता है। यह मदिरा से भी अधिक मादक है। पैसे में भोग के प्रतिदान की शक्ति है, इसलिये उसकी ओर सहसा दृष्टि खिंच जाती है। बहुसंयोग और बहुभोग की पूर्ति के लिए बड़े परिग्रह की बात प्रधान रहे, वहाँ व्रत का ध्येय सफल नहीं हो सकता। इसलिये जो व्रती बनते हैं, वे परिग्रह की जड़—भोग-वृत्ति का नियमन करें, श्रम को नीचा और परिग्रह को ऊँचा मानने की भावना को तोड़ें, तभी अपरिग्रह और अहिंसा का विचार आगे बढ़ सकता है। अगर ऐसा हुआ तो अवश्य ही व्रत-प्रधान या अहिंसा-प्रधान समाज का निर्माण हो सकेगा और अणुव्रती भाई-बहिन उस आदर्श समाज के आधार-स्तम्भ और सूत्रधार होंगे।

पाँचवाँ अध्याय

कद़म आगे बढ़े

: १ :

आध्यात्मिक समतावाद

अनुत्तरं साम्यमुपैति योगी—योगी अनुत्तर साम्य को पाता है। साम्य का प्रयोग बहुत ही प्राचीन काल से चलता आ रहा है। जैनों की भाषा में अहिंसा और समता एक है। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में जो सम रहे, वही अहिंसा की आराधना कर सकता है। राग-द्वेष आवेगात्मक वृत्तियाँ हैं। इनसे परे रहने का जो भाव है—मध्यस्थता है, वही साम्य है। गीता में 'समत्व' को योग कहा गया है।

साम्यवाद आज के दलित-मानस का प्रिय शब्द है। कुछ लोग साम्यवाद से घबराते भी हैं। दिल्ली में आचार्यश्री से एक व्यक्ति ने पूछा—क्या भारतवर्ष में साम्यवाद आयेगा ? आचार्यश्री ने कहा—आप बुलायेंगे तो आयेगा, नहीं तो नहीं। उत्तर सीधा है। कार्य को समझने के लिए कारण को समझना चाहिए। साम्यवाद का कारण है—पूँजीवाद। दो-सौ वर्ष पहले पूँजीवाद इस अर्थ में रूढ़ नहीं था, जिस अर्थ में आज

है। १८ वीं (ई० १७६१) शती में भाप का आविष्कार हुआ। उसके साथ-साथ पूँजीवाद आया। इससे पहले यातायात के साधन अल्प वेग वाले थे। संग्रह के साधन सुलभ नहीं थे। सहज भाव से विकेन्द्रित स्थिति थी। वाष्प युग ने यन्त्र-युग का रूप लिया। वर्तमान युग यन्त्र-युग है। इस युग में यातायात के साधन वेगवान् बने और बनते जा रहे हैं। विश्व सिमट गया। यन्त्रों द्वारा कार्य होने लगा। कार्य करने की क्षमता मनुष्यों से हटकर मशीनों में आ गई। पूँजी का संग्रह सुलभ हो गया। व्यक्ति-व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति थी, वह कुछ ही व्यक्तियों के पास चली गई। सहज ही दो वर्ग बन गये। पूँजीपति और मजदूर। पहले बड़े नगर कम थे, गाँव अधिक। मिलों ने गाँवों को खाली किया। नगरों की आबादी बढ़ गई। हजारों मजदूर एक साथ काम करने लगे। इस परिस्थिति से उन्हें मिलने, संगठित होने और वर्ग बनाने का अवसर मिला। वर्ग-संघर्ष का बीज जड़ पकड़ गया।

पूँजीवाद का परिणाम है—बेकारी और उत्पादन की कृत्रिम आवश्यकता। मनुष्य का काम यन्त्र करने लगे तब हजारों का जीवन-साधन एक व्यक्ति के पास आ गया। एक धनी और हजारों बेकार हो गये। संघर्ष की जड़ मजबूत हो गई। वही आगे जा साम्यवाद के रूप में फलित हुई।

पुराने पूँजीपतियों की धारणा यह थी कि यह परम्परा इसी प्रकार चलती रहेगी। पूँजीपति और मजदूर इसी प्रकार

बने रहेंगे। मार्क्स ने इस दृष्टिकोण से भिन्न विचार प्रस्तुत किया। वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। उसके अनुसार यह विश्व परिवर्तनशील है। मूलावस्था में विरोधी तत्त्व समवेत रहते हैं। जिस समय जिसकी प्रबलता होती है, उस समय वह व्यक्त हो जाता है। एक के बाद दूसरी अवस्था आती है, दूसरी के बाद तीसरी। दूसरी अवस्था पहली का विपरिणाम और तीसरी विपरिणाम का विपरिणाम होती है। यह क्रम चलता रहता है। पहले पूँजीवाद था, बेकारी बढ़ी; शोषण हुआ। शोषण से क्षोभ उत्पन्न हुआ—पूँजीवाद का ढाँचा लड़-खड़ाने लगा। प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद को जन्म मिला। आर्थिक दृष्टि से साम्यवाद का स्वरूप उत्पादन और वितरण में समाया हुआ है। इन पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो—यही है साम्यवाद का आर्थिक दृष्टिकोण।

कुछ पुराने दार्शनिकों ने कहा—सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। किन्तु सम्पत्ति का वितरण कैसे किया जाय, यह उन्होंने नहीं बतलाया। इसलिए आज के चिन्तक उसे दार्शनिक साम्यवाद कहते हैं। मार्क्स ने सम्पत्ति के वितरण की व्यवस्थित पद्धति बतलाई। इसलिए उसका साम्यवाद वैज्ञानिक साम्यवाद कहलाता है। उसने एक सीमा तक सम्पत्ति के वैयक्तिक-प्रभुत्व को राष्ट्रीय प्रभुत्व के रूप में बदल दिया।

अणुव्रत का अभियान वैयक्तिकता से राष्ट्रीयता की ओर नहीं है। वह असंग्रह की ओर है। यह आर्थिक समस्या का

समाधान नहीं है, किन्तु अर्थ के प्रति होने वाले आकर्षण को तोड़ने की प्रक्रिया है। लोग कहते हैं—अपरिग्रह का उपदेश हजारों वर्षों से चल रहा है। पर स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। तर्क सही है। वैज्ञानिक साम्यवाद के द्वारा समाज की अर्थ-व्यवस्था में जो परिवर्तन आया है, वह अपरिग्रह के उपदेश से नहीं आ सका है। इसका कारण दोनों का भूमिका-भेद है। साम्यवाद का उद्देश्य है—समाज के अर्थतन्त्र का परिवर्तन और *अपरिग्रह का उद्देश्य है—व्यक्ति की आत्मा का परिशोधन* या पदार्थ-संग्रह की मूर्च्छा का उन्मूलन। इनकी प्रक्रिया भी एक नहीं है। साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था राज्य शक्ति के द्वारा होती है और आत्मा का परिशोधन व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन से होता है। अर्थ-व्यवस्था सामाजिक हो सकती है और आत्मा का शोधन वैयक्तिक ही होता है। संक्षेप में कहा जाय तो अपरिग्रह भोग-त्याग का प्रेरक है और साम्यवाद भोग की सन्तुलित व्यवस्था का प्रेरक। अपरिग्रह की एक लम्बी परम्परा है, जिसे मान्य कर लाखों करोड़ों व्यक्ति आकिंचन्य का व्रत ले चुके हैं और उसका धागा आज भी टूटा नहीं है। साम्यवाद ने पूर्ण असंग्रह की ओर किसी को प्रेरित किया हो, ऐसा नहीं लगता।

अर्थ व्यवस्था के परिष्कार में साम्यवाद या उसके पार्श्वों को छूती हुई दूसरी जनतन्त्र-प्रणालियाँ सफल न हुई हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु इनके द्वारा मानव की आवेगात्मक

वृत्तियाँ परिष्कृत हुई हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। वृत्तियों का परिष्कार पदार्थ-संग्रह को अनिष्टकर मानने पर ही हो सकता है। अध्यात्मवाद इसी दिशा का नाम है।

संग्रह का मूल भोग-वृत्ति में है। समाज की जितनी व्यवस्थाएँ हैं, वे मात्रा-भेद से भोग-वृत्ति के परिष्कार हैं। अर्थ-तन्त्र उसका साधन है। अध्यात्मवाद का मूल त्याग में है। संग्रह-मात्र पाप है, भले ही फिर वह वैयक्तिक हो या सामाजिक। जितना परिग्रह उतना बन्धन, जितना बन्धन उतना मोह और जितना मोह उतनी मिथ्या धारणाएँ; यह एक क्रम है, जो मनुष्य में भटकने की तर्क-बुद्धि पैदा करता है।

अर्थ-तन्त्र की परिक्रमा करने वाले सारे वाद भौतिक-विकास को वैज्ञानिक और आत्मिक-विकास को अवैज्ञानिक मानकर चल रहे हैं। परिष्कृत अर्थ-व्यवस्था ने भी संघर्ष की दिशा बदली हो, ऐसा नहीं लगता। विकास को मापा जाता है—पदार्थ से, शस्त्र से और सेना से।

सामाजिक प्राणियों के लिए सामाजिक-विकास अपेक्षित नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। यह भी सच है—अपरिग्रह से समाज का भौतिक विकास नहीं होता। वह आत्मा के विकास का पथ है। सामाजिक जीवन के लिए भौतिक पक्ष और उसकी समृद्धि के लिए परिग्रह आवश्यक माना जाता रहा है। परिग्रह इच्छा है, पदार्थ नहीं। इच्छा जुड़ती है, वह परिग्रह बन जाता है। इच्छा का नियंत्रण किया जा सकता है,

पदार्थ का नहीं। सामाजिक प्राणियों के लिए अपरिग्रह का अर्थ है—इच्छा-परिमाण। जीवन-यापन के दो विकल्प हैं—महा-आरम्भ और महा-परिग्रह तथा अल्पारम्भ और अल्प-परिग्रह। आज की भाषा में बड़ा उद्योग और अपार संग्रह तथा छोटा उद्योग और सीमित संग्रह। उद्योग के केन्द्रीकरण से अर्थतन्त्र विकृत होता है। यह व्यावहारिक दोष है। उसका आध्यात्मिक दोष है—भोगवृद्धि। भोग के लिए प्रचुर परिग्रह चाहिए और उसके लिए बड़ा उद्योग। यह क्रम जीवन के दोनों (भौतिक और आध्यात्मिक) पक्षों को जटिल बनाने वाला है। उद्योग के विकेन्द्रीकरण या अल्पीकरण का आधार अल्प-भोग है। अणुव्रत-आन्दोलन की आत्मा भोग-त्याग या संयम है। इसी-लिए यह आध्यात्मिक है। भारत का मानस चिरकाल से आध्यात्मिक रहा है। भारतीय लोग जो शान्तिप्रिय हैं, उसका कारण उनकी आध्यात्मिक परम्परा है। आर्थिक साम्य सुख-सुविधा के साधन प्रस्तुत कर सकता है। आध्यात्मिक साम्य शान्ति या मानसिक सन्तुलन का साधन है।

: २ :

आत्म-तुला का विस्तार-क्षेत्र

व्रत नहीं दीखते, व्रती का व्यवहार दीखता है। जो क्रूर नहीं है, उचित मात्रा से अधिक संग्रह नहीं करता है, अपने पड़ोसी या सम्बन्धित व्यक्ति से अनुचित व्यवहार नहीं करता है, अपने स्वार्थ को अधिक महत्त्व नहीं देता है, अपनी सुख-सुविधा व प्रतिष्ठा के लिये दूसरों की हीनता नहीं चाहता है, दूसरों के बुद्धि-दौर्बल्य, विवशता से अनुचित लाभ नहीं उठाता है—थोड़े में नैतिकता का मूल्यांकन करते हुए अपने आप पर नियन्त्रण रखता है, ये वृत्तियाँ ही अणुव्रती होने का स्वयम्भू प्रमाण हैं। व्रतों की साधना के बिना उनका स्वीकारमात्र इष्ट फल नहीं लाता। पहली मंजिल में केवल वस्तु का त्याग होता है। अन्तिम मंजिल में वासना भी छूट जाती है। वस्तु-संग्रह के संस्कार भी मिट जाते हैं। व्यक्ति संस्कारों का पुतला होता है। उसमें सबसे अधिक घने संस्कार अपनी सुख-सुविधा के होते हैं, जिनका स्वार्थ-वृत्ति में पूर्ण आकलन हो जाता है। पदार्थ-वृत्ति के संस्कार स्वार्थ से कम होते हैं। पदार्थ की भी

कई भूमिकाएँ हैं—परिवार, जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र, फिर मनुष्य और फिर प्राणी जगत्। इनमें क्रमशः व्यापकता है। व्यक्ति का स्व जितना विशाल बनता है, उतना ही वह स्वयं विशाल बन जाता है। यह आत्मौपम्य-बुद्धि या आत्म-तुला का विस्तार क्षेत्र है। पहले-पहल वह अपने पारिवारिक जनों को अपने समान समझने लगा। फिर उसने क्रमशः अपनी जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र के व्यक्तियों को अपने समान माना। आगे जाकर मानव-मानव भाई-भाई का स्वर गूँजा। अन्तिम चरण में "प्राणीमात्र समान हैं," यह बुद्धि में समा गया।

समाज में आत्मौपम्य बुद्धिवाद फैला हुआ है पर आत्मौपम्य बुद्धि से फलित होनेवाले स्वार्थ-त्याग के व्रत की साधना नहीं है। ज्ञान का आवरण दूर हुआ है किन्तु मोह नहीं छूटा है। यथार्थ ज्ञान भी मोह के रहते हुए क्रियात्मक नहीं बनता, इसलिए एक कदम और आगे बढ़ाना होगा। जैसे अज्ञान को मिटाने का प्रयत्न किया, वैसे मोह को उखाड़ फेंकने की साधना करनी होगी। ऐसा किये बिना अन्याय और अप्रामाणिकता का अन्त नहीं किया जा सकता। आत्म-तुला का संस्कार मोह से दबा रहता है, तभी व्यक्ति दूसरों का दमन, शोषण, उत्पीड़न करता है, उन्हें मारता है, सताता है, हानि पहुँचाता है। जो दूसरों में अपनी जैसी ही अनुभूति देखने लग जाय वह फिर किसी को न मार सकता, न सता सकता और न

लूट सकता है। जातीय और राष्ट्रीय समानता की भावना के कारण कई राष्ट्रों का नैतिक वल वहुत ऊंचा है। वाहरी समानता का भाव भी इतना फल ला सकता है, तव भला आन्तरिक समता की वृत्ति के महान् परिणाम के वारे में कैसे सन्देह किया जाये ? आत्मिक समानता की वृत्ति का उदय होने पर परिवार, जाति आदि के वाहरी भेद और भौगोलिक आदि कृत्रिम भेद रेखाएं ही नहीं मिटतीं, उनका उन्माद भी मिट जाता है। उपयोगिता पूरक भेद के रहने पर भी सन्ताप वढ़ने का अवकाश नहीं रहता।

कई भूमिकाएँ है—परिवार, जाति, समाज, प्रा
फिर मनुष्य और फिर प्राणी जगत्। इनमें क्रमश
व्यक्ति का स्व जितना विशाल बनता है, उतना ह
विशाल बन जाता है। यह आत्मौपम्य-बुद्धि या
का विस्तार क्षेत्र है। पहले-पहल वह अपने पारिवारि
को अपने समान समझने लगा। फिर उसने क्रमश
जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र के व्यक्तियों को अपने सम
माना। आगे जाकर मानव-मानव भाई-भाई का स्व
गूँजा। अन्तिम चरण में "प्राणीमात्र समान है," यह बुद्धि में
समा गया।

समाज में आत्मौपम्य बुद्धिवाद फैला हुआ है पर आत्मौपम्य बुद्धि से फलित होनेवाले स्वार्थ-त्याग के व्रत की साधना नहीं है। ज्ञान का आवरण दूर हुआ है किन्तु मोह नहीं छूटा है। यथार्थ ज्ञान भी मोह के रहते हुए नियामक नहीं बनता, इसलिए एक कदम और आगे बढ़ाना होगा। जैसे अज्ञान को मिटाने का प्रयत्न किया, वैसे मोह को उखाड़ फेंकने की साधना करनी होगी। ऐसा किये बिना अन्याय और अप्रामाणिकता का अन्त नहीं किया जा सकता। आत्म-तुला का संस्कार मोह से दबा रहता है, तभी व्यक्ति दूसरों का दमन, शोषण, उत्पीडन करता है, उन्हें मारता है, सताता है, हानि पहुँचाता है। जो दूसरों में अपनी जैसी ही अनुभूति देखने लग जाय वह फिर किसी को न मार सकता, न सता सकता और न

में दैन्य भरता है। पदार्थ का आकर्षण टूटता है, आत्म-बल का सहज उदय हो जाता है। आत्मोदय की धारणा में परिस्थिति गौण बन जाती है।

यह सच है—परिस्थिति की प्रतिकूलता जन-साधारण के लिए एक प्रश्न है। किन्तु मनुष्य को परिस्थिति का दास बनाकर उसे नहीं सुलझाया जा सकता। परिस्थिति के रूपान्तर से मनुष्य की वृत्ति का रूपान्तर हो जाता है। वह कोई नैतिक विकास नहीं है। साम्यवादी अर्थ-तन्त्र में एक प्रकार की अनैतिकता मिट जाती है, पर क्या अनैतिकता के सभी प्रकार मिट जाते हैं? क्या उस व्यवस्था में अपराध और अपराधी नहीं होते? क्या राजनैतिक स्पर्धा नहीं होती? एकतन्त्र एक परिस्थिति पैदा करता है, जनतन्त्र दूसरी। पूँजीवाद एक परिस्थिति पैदा करता है, साम्यवाद दूसरी। इनमें नैतिकता के एक रूप का विकास होता है तो उसके दूसरे रूप का विनाश भी होता है। अनैतिकता का एक रूप मिटता है तो उसका दूसरा रूप उभरता भी है। यह परिस्थितिवाद की देन है। उसे मुख्य मानकर चला जाय तो वह रुकेगी नहीं। आध्यात्मिकता परिस्थिति निरपेक्ष है। मनुष्य आत्मा है। उसकी क्षमता असीम है। वह प्रतिकूल परिस्थिति में भी नैतिक रह सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है—इस श्रद्धा को जगाना।

: ३ :

धारणा बदले बिना समाज नहीं बदलता

पहले धारणाएं बदलती हैं, फिर व्यवस्था। परिस्थितियों का परिवर्तन हुए बिना मनुष्यों का परिवर्तन नहीं होता। परिस्थितियाँ नैतिकता के अनुकूल होती हैं, मनुष्य नैतिक बनता है। वे उसके प्रतिकूल होती हैं, मनुष्य अनैतिक बनता है, यह बहुतों की धारणा है। यह परिस्थितिवाद है। भौतिकता का उत्कर्ष इसी धारणा से हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन परिस्थितिवाद का प्रचार नहीं करता। वह आध्यात्मिक है। परिस्थितियों की अनुकूलता से उसका कोई विरोध नहीं है। किन्तु उनकी अनुकूलता में ही मनुष्य नैतिक रह सकता है—इस धारणा से विरोध है। मनुष्य परिस्थितियों की उपज नहीं है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। भोग-वृत्ति से वह दुर्बल बनता है। कठिनाइयों को सहन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है मनुष्य परिस्थिति से दब जाता है। आध्यात्मिकता का प्रवेश-द्वार है—त्याग। त्याग से आत्मा का बल बढ़ता है। आत्म बल का मतलब है—भौतिक आकर्षण का अभाव। पदार्थ का आकर्षण मनुष्य

में दैन्य भरता है। पदार्थ का आकर्षण टूटता है, आत्म-बल का सहज उदय हो जाता है। आत्मोदय की धारणा में परिस्थिति गौण बन जाती है।

यह सच है—परिस्थिति की प्रतिकूलता जन-साधारण के लिए एक प्रश्न है। किन्तु मनुष्य को परिस्थिति का दास बनाकर उसे नहीं सुलझाया जा सकता। परिस्थिति के रूपान्तर से मनुष्य की वृत्ति का रूपान्तर हो जाता है। वह कोई नैतिक विकास नहीं है। साम्यवादी अर्थ-तन्त्र में एक प्रकार की अनैतिकता मिट जाती है, पर क्या अनैतिकता के सभी प्रकार मिट जाते हैं? क्या उस व्यवस्था में अपराध और अपराधी नहीं होते? क्या राजनैतिक स्पर्धा नहीं होती? एकतन्त्र एक परिस्थिति पैदा करता है, जनतन्त्र दूसरी। पूँजीवाद एक परिस्थिति पैदा करता है, साम्यवाद दूसरी। इनमें नैतिकता के एक रूप का विकास होता है तो उसके दूसरे रूप का विनाश भी होता है। अनैतिकता का एक रूप मिटता है तो उसका दूसरा रूप उभरता भी है। यह परिस्थितिवाद की देन है। उसे मुख्य मानकर चला जाय तो वह रुकेगी नहीं। आध्यात्मिकता परिस्थिति निरपेक्ष है। मनुष्य आत्मा है। उसकी क्षमता असीम है। वह प्रतिकूल परिस्थिति में भी नैतिक रह सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है—इस श्रद्धा को जगाना।

: ४ :

आर्थिक बोझ से अनैतिकता की ओर

सामाजिक परम्परा जितनी जटिल होती है, अर्थ का बोझ जितना अधिक होता है, उतनी ही कठिनाइयाँ जीवन में भर आती हैं। अनैतिकता बढ़ने में लालसा मुख्य कारण है। परिस्थितियों से यह उछल उठती है। परिस्थितियाँ सामाजिक धारणाओं या मान्यताओं से निर्मित होती हैं। सामाजिक धारणाओं को बदले बिना वे नहीं बदलतीं। परिस्थितियों के बदले बिना लालसा की उग्रता नहीं मिटती। लालसा की तीव्रता रहते हुए अनैतिकता का अन्त नहीं होता। समाज के रीति-रिवाज और परम्पराएं बड़ी खर्चीली होती हैं। ज्यों-ज्यों धन कमाने की बात प्रधान बन आती है। इसलिये अनैतिकता को उखाड़ फेंकने के लिये सामाजिक धारणाओं को बदलना आवश्यक है। वे बदलती हैं, तब अर्थ संग्रह की वृत्ति अपने आप शिथिल बन जाती है।

दहेज, मृत्यु भोज विवाह-भोज, कन्या वर विक्रय आदि परम्पराएं रूढ़ हो चुकी हैं। परम्परा का जन्म कभी किसी

विशेष प्रसंग से होता है, फिर वह चल पड़ती है। आदिकाल में इच्छा ग्राह्य होती है और मध्यकाल में अनिवार्य वन जाती है। यह अनिवार्यता ही रोग या वुराई का स्रोत है।

साधारण स्थिति वाले लोगों में अनिवार्य परम्पराओं को पूरा करने की क्षमता नहीं होती। किन्तु उन्हें पूर्ण किये विना गति भी नहीं, इसलिये ज्यों-त्यों वैसा ही करना पड़ता है। यहीं से अनैतिकता की ओर पैर चल पड़ते हैं।

किसी की मान्यता है—ऐसा किये विना परलोक नहीं सुधरता, कोई मानता है—प्रतिष्ठा को वट्टा लगता है। कोई स्पर्धा लिये चलता है—अमुक ने ऐसा किया तो मैं उससे कम कैसे रहूँ ? कोई शक्ति से आगे पैर फैलाना न चाहे, उसे दूसरे लोग शिकार वना लेते हैं। समाज की आज की मनोदशा पर वह पुराना अनुभव सही हो रहा है।

"केचिद् ज्ञानतो नष्टाः, केचिन्नष्टा प्रमादतः।
केचिद् ज्ञानावलेपेन, केचिन्नष्टैश्च नाशिताः॥"

कई अज्ञान से नष्ट होते हैं, कई प्रमाद से, कई ज्ञान के अहङ्कार से और कई खराव हुए लोगों द्वारा नष्ट होते हैं। विनाश का स्रोत वहुमुखी है।

आय और व्यय अर्थ के सहज रूप हैं। आय के अनुपात से व्यय करने में अधिक खतरा नहीं। व्यय के अनुपात से आय वढ़ाने की वात में गम्भीर खतरा है। आय के साधनों को दोषपूर्ण किये विना व्यय वढ़ाने की वात नहीं होती। अनै-

: ५ :

अर्जन-पद्धति का विचार

शोषण और संग्रह—इन दोनों का आधार अर्जन-पद्धति है। अर्थार्जन की पद्धति जहाँ नैतिकता से पूरित होती है, वहाँ शोषण और अनावश्यक संग्रह नहीं होता और जब वह स्वार्थ-पूरित होती है, वहाँ वैतनिक कर्मचारी की बुद्धि, क्षमता और श्रम का शोषण होता है, परिश्रम अधिक लिया जाता है, मूल्य कम चुकाया जाता है। यह स्थिति की विवशता से लाभ उठाने की पद्धति है। इससे हृदय में क्रूरता बढ़ती है। अणुव्रती क्रूर व्यवहार न करने और अतिश्रम न लेने का व्रत इसलिये लेता है कि वैसा करना संकल्पी हिंसा है, दूसरों के औचित्य और अधिकारों का जान-बूझकर किया जानेवाला [illegible]

संग्रह की लालसा तीव्र होती है, तभी [illegible] बडा रूप मिलता है। अणुव्रती संग्रह में [illegible] वैसी स्थिति मे अर्जन-पद्धति को भारी-[illegible] रखने का कोई अर्थ नहीं होता। उन्हें [illegible] लिए बड़े व्यवसाय, बड़े उद्योग से बचना

श्रम पर निर्भर बने रहने की वृत्ति तोड़ फेंकनी चाहिये। जहाँ छोटा उद्योग या अपने श्रम पर निर्भर उद्योग या व्यवसाय चलता है, वहाँ संकल्पी हिंसा की गुंजायश नहीं होती। अपने हाथ से श्रम करनेवाले व अपनी आवश्यकता-पूरक वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करनेवाले दूसरों के बुद्धिबल; शक्तिबल, श्रमबल के शोषण से सहजतया बच जाते हैं।

जीवन-निर्वाह के अनिवार्य साधन तीन माने जाते रहे हैं—कृषि, शिल्प और वाणिज्य—अन्न का उत्पादन, वस्त्र का उत्पादन और उनका विनिमय। उत्पादन और विनिमय दो आवश्यक कर्म हैं। इनके आधार पर दो श्रेणियाँ बनीं—उत्पादक और विनिमयकर्ता। उत्पादक उत्पादन करते और विनिमयकर्ता विनिमय के माध्यम से उत्पादकों की भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति करते। एक का उत्पादन से और दूसरे का विनिमय से जीवन-निर्वाह हो जाता। सुरक्षा और विद्या-दान ये भी जीवन-निर्वाह के सामान्य साधन थे। यह तब की स्थिति है, जब मनुष्य में संग्रह का भाव विकसित नहीं हुआ था। केवल जीवन-निर्वाह का ही भाव था। ज्यों-ज्यों कृत्रिम आवश्यकताएं बढ़ने लगीं, सुख-सुविधा, विलास व आलस्य या ऐशो-आराम बढ़ने लगा, त्यों-त्यों संग्रह बढ़ने लगा और अर्जन की पद्धतियाँ शोषणपूर्ण व क्रूर बनती गईं। हिंसा प्रधान व भोग-प्रधान वातावरण में ऐसा हुआ। यदि समाज अहिंसा-प्रधान और त्याग-प्रधान बनना चाहे तो उसे इन स्थितियों में परिवर्तन

: ५ :

अर्जन-पद्धति का विचार

शोषण और संग्रह—इन दोनों का आधार अर्जन-पद्धति है। अर्थार्जन की पद्धति जहाँ नैतिकता से पूरित होती है, वहाँ शोषण और अनावश्यक संग्रह नहीं होता और जब वह स्वार्थ-पूरित होती है, वहाँ वैतनिक कर्मचारी की बुद्धि, क्षमता और श्रम का शोषण होता है, परिश्रम अधिक लिया जाता है, मूल्य कम चुकाया जाता है। यह स्थिति की विवशता से लाभ उठाने की पद्धति है। इससे हृदय में क्रूरता बढ़ती है। अणुव्रती क्रूर व्यवहार न करने और अतिश्रम न लेने का व्रत इसलिये लेता है कि वैसा करना संकल्पी हिंसा है, दूसरों के औचित्य और अधिकारों का जान-बूझकर किया जानेवाला हनन है।

संग्रह की लालसा तीव्र होती है, तभी अर्जन-पद्धति को बडा रूप मिलता है। अणुव्रती संग्रह में विश्वास नहीं करते। वैसी स्थिति में अर्जन-पद्धति को भारी-भरकम बनाने या बनाये रखने का कोई अर्थ नहीं होता। उन्हें केवल वैयक्तिक संग्रह के लिए बड़े व्यवसाय, बड़े उद्योग से बचना चाहिये। दूसरों के

श्रम पर निर्भर बने रहने की वृत्ति तोड़ फेंकनी चाहिये। जहाँ छोटा उद्योग या अपने श्रम पर निर्भर उद्योग या व्यवसाय चलता है, वहाँ संकल्पी हिंसा की गुंजायश नहीं होती। अपने हाथ से श्रम करनेवाले व अपनी आवश्यकता-पूरक वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करनेवाले दूसरों के बुद्धिबल; शक्तिबल, श्रमबल के शोषण से सहजतया बच जाते हैं।

जीवन-निर्वाह के अनिवार्य साधन तीन माने जाते रहे हैं—कृषि, शिल्प और वाणिज्य—अन्न का उत्पादन, वस्त्र का उत्पादन और उनका विनिमय। उत्पादन और विनिमय दो आवश्यक कर्म हैं। इनके आधार पर दो श्रेणियाँ बनीं—उत्पादक और विनिमयकर्ता। उत्पादक उत्पादन करते और विनिमयकर्ता विनिमय के माध्यम से उत्पादकों की भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति करते। एक का उत्पादन से और दूसरे का विनिमय से जीवन-निर्वाह हो जाता। सुरक्षा और विद्या-दान ये भी जीवन-निर्वाह के सामान्य साधन थे। यह तब की स्थिति है, जब मनुष्य में संग्रह का भाव विकसित नहीं हुआ था। केवल जीवन-निर्वाह का ही भाव था। ज्यों-ज्यों कृत्रिम आवश्यकताएं बढ़ने लगीं, सुख-सुविधा, विलास व आलस्य या ऐशो-आराम बढ़ने लगा, त्यों-त्यों संग्रह बढ़ने लगा और अर्जन की पद्धतियाँ शोपणपूर्ण व क्रूर बनती गईं। हिंसा प्रधान व भोग-प्रधान वातावरण में ऐसा हुआ। यदि समाज अहिंसा-प्रधान और त्याग-प्रधान बनना चाहे तो उसे इन स्थितियों में परिवर्तन

लाना ही होगा—कृत्रिम आवश्यकताएं मिटानी होंगी, सुख-सुविधा व विलास के एकाधिकार को मिटाना होगा, संग्रह को कम करना होगा और अर्जन-पद्धति में से शोषण का भाग दूर फेंकना होगा। ऐसा किये बिना संकल्पी हिंसा से मुक्ति कहां ?

अणुव्रती खेती भी करते हैं, व्यवसाय और अध्यापन भी करते हैं, इनमें से किसी के साथ संग्रह और दूसरों के स्वत्व-हरण की वृत्ति जुड़ जाती है, वहीं संकल्पी हिंसा आ जाती है। अर्जन-पद्धति में शोषण का दोष स्वयं नहीं आता। वह संग्रह, भोग और कृत्रिम आवश्यकता-वृद्धि की कारण परम्परा में आता है। अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत अर्थार्जन की पद्धति को दोषपूर्ण बनानेवाले कारणों का उन्मूलन किया चाहते हैं। उस दृष्टि से कृत्रिम आवश्यकता-नियन्त्रण, भोग-नियन्त्रण और संग्रह-नियन्त्रण के द्वारा अर्जन-पद्धति का नियन्त्रण किया गया है।

: ६ :

श्रम और नैतिकता

सामाजिक जीवन संश्लिष्ट जीवन है। वह अनेक परिस्थितियों और विचारों के मिश्रण का घोल है। सामाजिक व्यक्तियों के कुछ संस्कार पुराने होते हैं और कुछ नये बनते हैं। दोनों का योग नर-सिंह का अवतार बन जाता है। नर और सिंह में यौगिक एकत्व हो सकता है किन्तु नरत्व और सिंहत्व में एकता नहीं होती।

सामाजिक व्यक्ति का जीवन आध्यात्मिक और अन्-आध्यात्मिक—इन दोनों पक्षों से व्याप्त होता है। किन्तु वह आध्यात्मिक ही होता है या अन्-आध्यात्मिक ही अथवा आध्यात्मिकता व अन्-आध्यात्मिकता एक ही है, इसमें कोई स्वरूप-भेद नहीं है, ऐसा नहीं होता।

आज श्रम का चिन्तन गहरी-प्रवाह हो रहा है। श्रम-समाज की सहज अपेक्षा है किन्तु यह अपेक्षा है इसलिए आध्यात्मिक भी है, यह विचार-मिश्रण है।

आध्यात्मिकता का विचार आत्म-शुद्धि की मान्यता पर

टिका हुआ है और श्रम के विचार की पूर्व मान्यता है—सामाजिक अपेक्षाओं की पूर्ति।

लोग श्रम को नीचा मानने लगे हैं, श्रम से जी चुराने लगे हैं। फलतः समाज अभ्युदयोन्मुख नहीं रहा। इसलिए श्रम को उत्तेजना देने की आवश्यकता समझी जा रही है। समाज के नेता चाहते हैं—श्रम बढ़े, फलतः अभ्युदय हो। आध्यात्मिकता आत्मा का स्वभाव है, धर्म है। वह अपेक्षा नहीं है। अभ्युदय से उसका सीधा सम्बन्ध भी नहीं है, वह अभ्युदय की साधना भी नहीं है, साधन भी नहीं है और अभ्युदय उसका साध्य भी नहीं है।

अभ्युदय के लिए अर्थशास्त्र का जो उपयोग है, वह धर्मशास्त्र का नहीं है और इसलिए नहीं है कि धर्मशास्त्र अभ्युदय की सीमा में घुसनेवाले दोषों का निवारक हो सकता है, किन्तु अभ्युदय का कारक नहीं होता। कुछ लोग धर्म को अभ्युदय का कारक मानते हैं। उससे तत्काल अभ्युदय होता नहीं। लोग धर्म से विमुख बन जाते हैं।

मोक्ष का स्वरूप विदेह है। प्रवृत्ति देहाश्रित है। आध्यात्मिकता का अर्थ है विदेह, विदेह की साधना या साधन। इसी का नाम निवृत्ति है। देह के रहते प्रवृत्ति रुकती नहीं। किन्तु आत्म-शुद्धि के साधक की प्रवृत्ति असंयत भी नहीं रहती। खाना उसकी प्रवृत्ति है, किन्तु जीव-हिंसापूर्वक खाना उसकी प्रवृत्ति नहीं है। जहाँ जीने का प्रश्न गौण और अहिंसा या

आध्यात्मिकता का प्रश्न प्रधान वन जाता है, वहाँ हमें श्रम, जो जीने के प्रश्न को प्रधानता देता है, की भाषा में नहीं सोचना चाहिए। श्रम प्रवृत्ति का ही एक अंग है। यह प्रयोजन-सापेक्ष है। श्रम करते रहना चाहिए—यह उतना मूल्यवान् नहीं जितना मूल्य इसका है कि प्रयोजन की पूर्ति के लिए श्रम करना चाहिए। निष्कर्ष की भाषा में श्रम का मूल्य सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। आध्यात्मिकता निरपेक्ष है। श्रम, श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु-समूह और उसके भोग की दूरी ज्यों बढ़ती है, त्यों वह अधिकाधिक विकासशील वनती है। श्रम, वस्तु, भोग और देह ये सब सर्वथा दूर हो जाते हैं, तब वह पूर्ण विकास पाती है।

यह विचार बहुत गहरा भी हैं, लम्बा भी और उलझन भरा भी। फिर भी मैंने इस ओर संक्षिप्त संकेत किया है। अब मैं वर्तमान-मानस के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। सबको सब कुछ करना चाहिए, कम-से-कम अपनी अपेक्षाओं को अपने आप पूरा करना चाहिए—कुछेक चिन्तकों का मानस ऐसा है। किसी एक सीमा तक ठीक भी होगा। किन्तु यह सारी दृष्टियों से ठीक है—ऐसा हमें नहीं लगता। उत्पादक-श्रम को अपकृष्ट मानना यदि दोष है तो उसे सर्व-दृष्ट्या सर्वोत्कृष्ट मानना भी निर्दोष नहीं है। आध्यात्मिक साधना को हम क्षण भर के लिए अलग कर दें। व्यवस्था, विकास आदि की दृष्टि से सोचें, तो भी यह बुद्धिगम्य नहीं

होता कि उत्पादक श्रम की एकरूपता सबमें हो और सब अपनी अपनी अपेक्षाओं को अपने आप पूरा करें।

समाज ने कला, विज्ञान आदि-आदि के विकास को महत्त्व दिया है और उसके योग्य व्यक्तियों को उसके विकास का अवसर भी दिया है। श्रम को नीचा मानने का जो दोष आ गया, उसके आधार पर व्यक्तियों की योग्यता के तारतम्य को एक ही तुला से नहीं तोला जा सकता। स्वावलम्बन, आत्म-निर्भरता आदि शब्द स्वयं उलझ गये हैं। वे नये सिरे से चिन्तन चाहते हैं और हमें वैसा करना भी है। कौन हाथ पैर हिलाता है और कौन नहीं? कौन सक्रिय है और कौन निष्क्रिय? इन प्रश्नों को हम उत्पादक-श्रम की भूमिका पर खड़े होकर सोचेंगे तो प्रतिध्वनि वही होगी, जो कि समाज की सामान्य अपेक्षा के लिए होनी चाहिए और यदि हम विभिन्न भूमिकाओं से इनका उत्तर पाने का प्रयत्न करेंगे तो श्रम के एकात्मक-प्रतिष्ठान का आधार टूट जायेगा। हमारे लिए यह अधिक अच्छा है कि हम इस प्रश्न को एकांगी दृष्टिकोण से ही न देखें।

: ७ :

आध्यात्मिकता और भौतिक वस्तु का उत्पादन

श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने अणुव्रत पाक्षिक में आध्यात्मिक साधना और भौतिक वस्तु के उत्पादन के बारे में एक प्रश्न उपस्थित किया था। वह यों हैं:—"साधक और विद्वान् को समझ लेना चाहिए कि उनकी आध्यात्मिक साधना और विद्वता प्रधान रूप से उनके अपने लिये है, किन्तु किसान का अन्न व वस्त्र उसके और उनके दोनों के लिए है। क्या आध्यात्मिक साधना और भौतिक वस्तु की उत्पति के प्रयत्नों में सचमुच एकदम तीन छः का सम्बन्ध है ? क्या आध्यात्मिक साधना के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि साधक को विना हाथ-पैर हिलाये, निठल्ले बैठे ही खाना-कपड़ा मिला करे ?"

साधना के लक्ष्य की दृष्टि से इसका विचार इस प्रकार किया जा सकता है : किसान को किसान ही नहीं रहना चाहिए, किन्तु उसे साधक भी होना चाहिए; यह एक मान्यता है। इसकी समानान्तर मान्यता यह है कि साधक को

कोरा साधक ही नहीं रहना चाहिये, किन्तु उसे किसान भी होना चाहिए। यानी अमुक किसान है और अमुक साधक, यह भेद ही नहीं होना चाहिये। सबके सब साधक हों, सबके सब किसान। सामान्य दृष्टि से यह तर्क यथार्थ लगता है, किन्तु अधिकारी के भेद से कार्य का भेद होता है, इस दृष्टि से यह यथार्थ नहीं भी है। सामान्य चिकित्सक का कार्यक्षेत्र व्यापक होता है। वह सारे अवयवों की चिकित्सा करता है, किन्तु एक अवयव की चिकित्सा का विशेषज्ञ उसी में अपनी शक्ति केन्द्रित कर लेता है। सबको सब कुछ करना चाहिये—यह व्यापकता की बात है। सुनने में अच्छी लगती है, किन्तु उपयोगिता का अंश इसमें कम है।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन के प्रश्न के अन्त्य-भाग की ध्वनि यही है कि साधक को किसान और बुनकर भी होना चाहिये। समाज की अर्थ-व्यवस्था को प्रधान मानकर सोचने वाला कोई आदमी कह भी सकता है कि साधक को अपना खाद्य और परिधान स्वयं उत्पन्न करना चाहिये, किन्तु आत्म-मुक्ति के दर्शन से देखनेवाला कहेगा कि साधक को पदार्थ का संग, हो सके उतना कम करना चाहिये। उसे खान-पान और परिधान के लिये नहीं, किन्तु साध्य—आत्म-मुक्ति की विदेह स्थिति के लिये अहिंसात्मक साधनापूर्वक जीना चाहिये। उसे अहिंसक पद्धति से मिलने पर खाने और वैसा न होने पर अनशन करने का संकल्प किये रहना चाहिये। उसके लिये

पदार्थ-विस्तार के क्षेत्र में जाना और वार्य हिंसा करना उचित नहीं। वह साधना की विशेष श्रेणी को शिथिल बना देता है और आत्म-मुक्ति के लक्ष्य को समाज-व्यवस्था के रूप में बदल देता है।

भौतिक वस्तु की उत्पत्ति के प्रयत्न और आध्यात्मिकता में तीन-छः का सम्बन्ध है भी और नहीं भी। आध्यात्मिकता और अन्-आध्यात्मिकता आत्मा की स्थिति विशेष है। वस्तु की उत्पत्ति के जिस प्रयत्न के साथ ममत्व और हिंसा का प्रयोग जुड़ता है, आत्मा की वृत्ति अन्-आध्यात्मिक हो जाती है। उसके साथ ये नहीं जुड़ते, वृत्ति आध्यात्मिक होती है। खेती में उपकरण का विस्तार और शक्य कोटि की हिंसा—ये दोनों दोष बढ़ते हैं। ममत्व की सीमा फिर नहीं बढ़ती—यह गहरे चिन्तन के बाद नहीं कहा जा सकता।

गृह-मुक्त साधक के लिए जो सहज-लब्ध भिक्षा का क्रम स्थिर हुआ, वह चिन्तन के विस्तार के बाद भी शेष सभी विकल्पों से भिन्न, प्रशस्त और असंग्रह तथा अहिंसा के उन्मुख है। साधक को असंग्रह और उपकरण-लाघव की भूमिका से घसीटकर नीचे लाने में कोई श्रेय नहीं दीखता। शेष यह रहा कि साधना स्वार्थ है। यथार्थ में स्वार्थ और परार्थ—दोष या गुण की निश्चित कसौटी नहीं है। श्रेय की बात परमार्थ है। समाज का जीवन परस्परावलम्बी है। वहाँ विनिमय चलता है। किसान और बुनकर इसके अपवाद नहीं हैं। साधक इसका

अपवाद है। वह विनिमय के रूप में न लेता है और न देता है और न उसे वैसा करना ही चाहिए। वह समाज को जीने का साधन न देकर भी कुछ वैसा देता है, जो जीने से अधिक मूल्यवान् है। समाज का यापन पदार्थ से होता है और उसका उत्कर्ष त्याग से। त्याग साधना का सहज आलोक है, जो साधक और उसके पारिपार्श्विक वातावरण—दोनों को आलोकित करता है। इसलिये हमें पदार्थ की स्पष्ट और स्थूल देन के सामने चरित्र की अस्पष्ट, सूक्ष्म, किन्तु बहुत मूल्यवान् देन को मूल्यहीन नहीं मानना चाहिए।

साधना अवश्य ही वैयक्तिक होती है। किन्तु उसका आलोक समाज तक पहुँचता है। इस अर्थ में वह वैयक्तिक नहीं भी है। क्या अपने लिये होता है और क्या दूसरों के लिए—इसकी निश्चित परिभाषा देना बड़ा कठिन है। साधकों की कई कोटियाँ हैं। एक कोटि के साधक "आत्मानुकम्पी और परानुकम्पी" दोनों होते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन अवश्य ही एक साधक आत्मा की साधना का सुपरिणाम है, जो परानुकम्पा से प्रेरित होकर समाज की आत्मा को पवित्र कर रहा है। हमारा सारा चिन्तन पदार्थ की धुरी पर ही नहीं चलना चाहिए।

: ८ :

आन्दोलन और प्रसार

महात्मा भगवानदीनजी[1] का लेख पढ़ा तो लगा कि इसमें कुछ है और कुछ विचित्र है। कुछ सहमति योग्य है और कुछ नहीं है। कुछ अनेकान्त-दृष्टिगम्य है तो कुछ एकांगी-सा है। कुछ अणुव्रत से सम्बन्धित है, कुछ नहीं भी। अपनी दृष्टि से अच्छा है। पर अच्छाई दूसरी दृष्टि में भी हो सकती है। इसलिए मैंने चाहा कि जो अणुव्रत से सम्बन्धित है, उसे छुआ जाय; जो नहीं है, उसे न छुआ जाय। यह न निरसन है और न प्रतिकार। अपना-अपना दृष्टिकोण है, जिसे व्यक्त करने का सबको अधिकार है; यदि वह विनम्र भाव से विवेकपूर्वक किया जाए।

महात्माजी अणुव्रत प्रचार को समाज के लिए इष्ट नहीं मानते, यह उनका विचार है किन्तु प्रत्येक वस्तु की अपनी मर्यादाएं होती हैं। उनकी परिधि को ध्यान में रखकर ही हम किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कह सकते हैं। प्रचार की भी

१—महात्मा भगवानदीनजी का निबन्ध "क्या अणुव्रत-प्रचार की चीज है?" अणुव्रत पाक्षिक (कलकत्ता) वर्ष २ अंक २३।

मर्यादाएँ है। पहले विचार आता है, फिर आचार। दोनों के बीच में रहता है—प्रचार। प्रचार के माध्यम से ही विचार दूसरों तक पहुंच आचार बनता है।

भगवान् महावीर ने अनुभूति के स्वर में कहा—सुनो, श्रद्धा करो और आचरण करो।

वैदिक ऋषियों ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन को विकास क्रम कहा।

विकास का वास्तविक क्रम यही है—जो सोए हुए हैं, उन्हें जगाओ, जो जागे हुए हैं, उन्हें प्रगति की ओर ले जाओ। प्रचार अपने आप में न गुण है और न दोष। शुद्ध साध्य की उपलब्धि के लिए शुद्ध साधनों द्वारा साधना के क्रम को प्रकाश में लाना प्रचार है और यह बुरा तो किसी प्रकार नहीं है। व्रत के प्रचार का मुख्य उद्देश्य समाज-शोधन है भी कहाँ। उसका प्रधान लक्ष्य है—व्यक्ति-शोधन। समाज का नियन्त्रण हो सकता है शोधन नहीं। शोधन व्यक्ति-व्यक्ति का होता है। बहुत सारे शुद्ध व्यक्तियों का समाज शुद्ध बन जाता है।

समाज संगठन की नींव सत्य और अहिंसा है—यह स्थूल सत्य है। सचाई यह है कि वह पारस्परिक सहयोग के लिए संगठित हुआ और संगठन का परिणाम हुआ सुविधा। समाज-संगठन में सत्य और अहिंसा का स्वतन्त्र मूल्य नहीं है, जितना कि नदी को पार करने के लिए पुल का। समाज, सत्य और अहिंसा के प्रयोग का विकास करने के लिए नहीं बना है।

सुविधा या स्वार्थ की सिद्धि के लिए हिंसा और असत्य से वचना अहिंसा और सत्य का स्वतन्त्र मूल्य नहीं माना जा सकता। कोई भी हिंसक कहा जानेवाला प्राणी सतत हिंसा नहीं करता, सवकी हिंसा नहीं करता, हेतु के विना हिंसा नहीं करता। क्या वह अहिंसा का व्रती है ? मूक प्राणी कभी नहीं वोलता, क्या वह सत्य का व्रती है ? व्रत और वस्तु है, हिंसा न करना, असत्य न वोलना और वस्तु। व्रत विकास का संकल्प है। हिंसा और असत्य का न होना सुविधा के लिए भी हो सकता है, बचाव के लिए भी हो सकता है, प्रयोजन के अभाव में भी हो सकता है और भी अनेक कारणों से हो सकता है। इसलिए अहेतुक या संगठन-हेतुक सत्य और अहिंसा को विकास-हेतुक सत्य और अहिंसा-व्रत के साथ तोलना एक अक्षम्य भूल हो सकती है।

संगठन-हीन जीवन-काल में सत्य और अहिंसा का प्रचार नहीं होता, इसका कारण प्रचार की आवश्यकता का अभाव नहीं किन्तु उसकी क्षमता का अभाव है।

प्रचार लगन की परिपक्वता का लक्षण है। जैन परिभाषा के अनुसार यौगिक-जीवन और इतिहास की भाषा के अनुसार मानव के आदि-जीवन में ज्ञान का प्रचार योग्य विकास नहीं होता। उसका आचार सहज शुद्ध होता है। किन्तु किसी महान् उद्देश्य के लिए साधना-लब्ध शुद्ध नहीं होता। आज की जंगली जातियों में भी ऋजुता है, सचाई है, विकार की

कमी है, वह सहज है। परिस्थिति की उत्तेजना न मिलने तक है। परिस्थिति की उत्तेजना मिलती है, दूसरा वातावरण सामने आता है, वे सहज गुण दोष में बदल जाते हैं। व्रत साधना-लभ्य आत्म-स्थिति है। विकार का हेतु होने पर भी आत्मा विकृत न बने, परिस्थिति का कुयोग होने पर भी गुण दोष रूप में न बदले, उस आत्म-स्थिति का नाम व्रत है।

आज फिर से, जंगली या असामाजिक जीवन बिताने की तैयारी समाज के पास नहीं है। समाज से दूर भागकर ऋजुता, सचाई और सौजन्य को पाने के लिए समाज तैयार नहीं है। इस स्थिति में हमारे पास व्यक्ति की भलाई का साधन एकमात्र व्रत ही बच रहता है। व्रत का कवच पहन व्यक्ति भौतिक आकर्षण से बचे, इसके लिए प्रचार भी आवश्यक है। मैथ्यू अरनाल्ड की भाषा में—"समाज अपनी गति से आगे नहीं बढ़ सकता। उसे थोड़े से लोग जबर्दस्ती आगे ढकेलते हैं और ये थोड़े से लोग उन कतिपय व्यक्तियों से प्रेरणा पाते हैं, जो श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, जिनमें सूझ, साहस और शक्ति है।"

प्रचार के पीछे अपना स्वार्थ हो तो वह बुरा भी हो सकता है। हित-लक्षी प्रचार बुरा नहीं होता। प्रकाश की चर्या भी अन्धकार के लिए विघ्न नहीं है, ऐसा हम कैसे कहें।

अणुव्रत का प्रचार श्रद्धा-जागरण का प्रचार है। श्रद्धा का परिपाक ही व्रत में बदल जाता है। व्रत लेते समय उसका सङ्कल्प लिया जाता है। व्रत का परिपाक दीर्घकालीन साधना

से होता है। व्रत की पहली भूमिका है श्रद्धा का जागरण, वीच की है स्थिरीकरण और अन्तिम है आत्म-रमण।

जैन भापा में श्रद्धा या रूचि दो प्रकार की होती है—नैसर्गिक और आधिगमिक। मनोविज्ञान इसी तथ्य को नैसर्गिक और अर्जिता—इन शव्दों में वांधता है। रुचि आधिगमिक या अर्जिता भी होती है। इसलिए प्रचार पर पटक्षेप नहीं किया जा सकता।

आचार्यश्री तुलसी के शव्दों में—'सहज-श्रद्धा के लिए आन्दोलन जरूरी नहीं किन्तु श्रद्धा को जगाने के लिए आन्दोलन अवश्य चाहिए। शव्द की दृष्टि से यह अणुव्रतों का आन्दोलन है। भावना की दृष्टि से यह श्रद्धा-जागरण का आन्दोलन है। व्रत का स्थान दूसरा है, पहले श्रद्धा का है। हृदय श्रद्धा से वदलता है, व्रत से नहीं।'

जो अहिंसा का प्रचार करेगा, वह उसकी पृष्ठभूमि और उसके परिणाम का भी प्रचार करेगा। मनुष्य मनुष्य समान है—यह दृष्टि तो स्पष्ट है ही, किन्तु अहिंसा के प्रचारक को यह समझना होगा कि आत्मा आत्मा समान है। अहिंसा की पृष्ठभूमि है आत्मौपम्य—सव जीव समान हैं। उसे समझे विना अहिंसा का मर्म समझा ही नहीं जाता। किन्तु सुखी रहने के लिए या समाज का सभ्य वने रहने के लिए ही कोई व्यक्ति अहिंसा या सत्य का व्रती वनता है तो वह वहुत छोटी वात होगी। उसे अहिंसा या सत्य का व्रती कहने की अपेक्षा अहिंसा और सत्य का स्वार्थी कहें तो अच्छा होगा।

महात्मा भगवानदीनजी के अनुसार—"जहाँ मनुष्य में यह विश्वास पैदा हुआ कि वह समाज का सभ्य हुए बिना सुखी रह ही नहीं सकता, अपनी उन्नति कर ही नहीं सकता अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता, उसे समाज का सभ्य बनकर रहना ही होगा, वहाँ वह अपने आप समाज के प्रति सत्यवादी बन जाता है। व्रत लेना नहीं पड़ता, उसका सत्य अपने आप व्रत का रूप ले बैठता है।" इस विचार-धारा में व्रत कहाँ है वह तो स्वार्थ है। व्रत की कल्पना केवल स्वार्थ पूर्ति ही हो तो उसे ही क्यों व्रती बन जाय। हमारी नम्र धारणा में व्रत की भूमिका इससे ऊँची है। व्रत आत्म संयम से आते हैं, आत्म-विकास के लिए संकल्पपूर्वक स्वीकार किये जाते हैं। इसलिए वह सामाजिक सुविधा-असुविधा से बनते बिगड़ते नहीं। हो सकता है, कहीं कहीं समाज का अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण उनके बनने-बिगड़ने में निमित्त बन जाय।

सामूहिक सुख सुविधा की उपलब्धि के लिए जो सत्य और अहिंसा का विकास होगा, वह सीमित होगा। जिस समूह से सुख सुविधा उपलब्ध होती है, वहाँ अहिंसा और सत्य का व्यवहार होगा। जहाँ राह नहीं मिलती, वहाँ हिंसा और असत्य का विकास होगा। इस भूमिका में [illegible] का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। यह सो[illegible] वाद है। व्रत व्यक्ति का निजी 'स्व' है। होता, स्वेच्छा से किया [illegible]। अत कोई

वह इच्छा और आचरण का नियमन है। व्यक्ति में इच्छा पैदा होती है और आचरण में उसकी अभिव्यक्ति होती है। वह आचरण, जिससे आत्मा का विकास रुके, न किया जाय और उसकी इच्छा भी मिट जाय, वैसा अभ्यास किया जाय—यही है व्रत। पराधीनता से कोई आदमी कोई काम नहीं करता वह व्रत नहीं, वह भोग की अप्राप्ति है। व्रत है—भोग त्याग का स्वाधीन संकल्प और अभ्यास।

अणुव्रत-आन्दोलन व्रत की पूजा का आन्दोलन नहीं है। उसमें आदि से अन्त तक व्रतों के अभ्यास की ही चर्चा है। जो लोग व्रत की आराधना न कर केवल उसकी पूजा में ही श्रेय समझने लगे हैं, उनके लिए यह आन्दोलन चुनौती बन गया है।

भौतिक लाभ या अलाभ के मापदण्ड से सत्य और अहिंसा को मापा जाता है—यह भयंकर भूल है।

असत्य से दूसरे की हानि होती है, इसलिए वह अधर्म है—यह गलत है।

असत्य से आत्मा में मोह चढ़ता है, इसलिये वह अधर्म है और सत्य से उसमें प्रकाश आता है इसलिए वह धर्म है। असत्य या सत्य बोलना, यह स्थूल बात है। व्रत वह है, जिससे असत्य बोलने का मोह जो है वह मिट जाय, फिर चाहे सत्य भी बोलना पड़े। यह साधना अकेलेपन में भी मूल्यवान् है और समाज में भी।

भौतिक हानि-लाभ सच और झूठ दोनों से हो सकते हैं। उनके आधार पर इन्हें धर्म और अधर्म मानने की असंगति नहीं होनी चाहिए। उन्हें उनके स्वतन्त्र गुण-दोष से ही आंकना चाहिए।

अर्थशास्त्र का नियम है—रुपये से रुपया आता है। नीति-शास्त्र का नियम है—आचरण से आचरण आता है। प्रचार की सीमा भी यही होनी चाहिए कि व्रती मनुष्य पैदा हों। उनसे व्रत की परम्परा आगे बढ़े। किन्तु जो लोग व्रत का नाम तक नहीं जानते- जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को नहीं समझते, उनकी हित-दृष्टि को ध्यान में रखकर व्रत का प्रचार किया जाय, वह समाज का हित-पक्ष है-ऐसा हमें लगता है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	७-८	छोड़ने के लिए इन्द्रिय	छोड़ने के लिए भोग और भोग को छोड़ने के लिए इन्द्रिय
३	१०	बनाने वाले	बनाने वाली
४	५	अभ्यास करते	अभ्यास करते-करते
४	७	विस्तार	विकार
५	८	अपना दृष्टिकोण	अपना-अपना दृष्टिकोण
६	१२	धम	धर्म
२६	१३	वक्तव्य	वक्तृत्व
४२	५	अहिंसा	हिंसा
४३	११	भूमि	भूमिका
४४	६	स्थिति हो जायेगी	स्थिति उत्पन्न हो जायेगी
४५	१०	निहित है। स्वतन्त्रता	निहित है। प्रशासनिक नियंत्रण से व्यवस्था सम रह सकती है, पर उसमें मनुष्य यंत्र बन जाता है। स्वतंत्रता
४५	१२	अहिंसा से हो सकती है	अहिंसा से ही हो सकती है
५१	१३	संकल्पहीन के फिसलने में तो कहीं बाधा ही नहीं है।	संकल्पहीन के लिए तो फिसलने में कहीं कोई बाधा ही नहीं है।
५२	६	होती है। अहिंसा	होती है। धन-संग्रह के लिए हिंसा की जाती है, असत्य बोला जाता है। अहिंसा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२	९	संयम	संयत
६६	२	सुलभ हो वह छोटा	सुलभ हो वह बड़ा और जिसे कम सुलभ हो वह छोटा।
६८	६	लक्ष्य नया	लक्ष्य उसे नया
६८	१६	संयम जागते ही	संयम का भाव जागते ही
७०	४	को हमारे	को भी हमारे
७०	९	विकास	विफलता
७०	१४	अल्प उद्योग एवं अल्प परिग्रह	अल्प-उद्योग और अल्प-परिग्रह
७०	१९	संयम के पीछे स्वावलम्बन	संयम के पीछे-पीछे स्वावलम्बन।
७०	२१	बढ़ती जाती[1] है।	यहां 'जाती है' पर जो अंक १ का टिप्पण लगा हुआ है वह पृष्ठ ७१ की पहली पंक्ति में 'जिनकल्प' शब्द पर होना चाहिए।
७१	१	अधिकारी सारा	अधिकारी अपना सारा
७१	४	वह प्रत्यक्ष रूप से या	वह प्रत्यक्ष रूप से हो या
८८	१३	झूठा	क्रूर
११०	९	हृदय में आये	हृदय में उतर आये
११७	१३	वह प्रचुरता	वह अर्थ-प्रचुरता
१६३	१३	यह	वह
१६५	४	यह	वह
		यौगिक	यौगलिक